पंजीयन संख्या : 68939/98

ज्ञान तत्व

सत्यता एवं निष्पक्षता का निर्भीक पाक्षिक

APR 2026
अंक - 02

490

अनुक्रमणिका

3

आशा खोती मानवता
अध्याय - 1
सुख, शांति और नियंत्रण : सभ्यता की मूल बेचैनी 4

MARGDARSHAK

प्रकाशन की तिथि - 16-04-2026 पोस्ट की तिथि - 30-04-2026

सिंहावलोकन

09 **अध्याय – 7**
डर का प्रशासन

15 **अध्याय – 14**
व्यक्ति, समाज और अकेंद्रित सत्ता (समाधान नहीं, दिशा)

16 **पुस्तक परिचय**

17 **ज़ूम चर्चा कार्यक्रम**

18 **साथियों के कलम से**

19 **संस्थागत समाचार**

पत्र व्यवहार का पता

बजरंग लाल अग्रवाल पोस्ट बाक्स 15, रायपुर (छ.ग.) 492021

website : margdarshak.info

प्रकाशक, संपादक व स्वामी - बजरंगलाल

9617079344

mail : Support@margdarshak.info

मुख्य कार्यालय-
ज्ञानयज्ञ परिवार आश्रम
रामानुजगंज छत्तीसगढ़ 497220
8318621282, 9630766001

लोक स्वराज अभियान
303 कृष्णा शिप्रा अजूरा अपार्टमेंट कौशांबी
गाजियाबाद 201012
9325683604, 9012432074

प्रधान संपादक
बजरंग लाल अग्रवाल
(बजरंग मुनि)

संपादक मण्डल
नरेन्द्र सिंह
संजय तिवारी
विपुल आदर्श

सहयोगी संपादक
ज्ञानेन्द्र आर्य

सदस्यता नियमन
संजय गुप्ता 872669477
कुशल दुबे 7999934238

सज्जा
लाल बाबू रवि

वितरण एवं मुद्रण सहयोग
रबीन्द्र विश्वास

अनुक्रमणिका

बजरंग मुनि
प्रधान संपादक

·समर्पण
·भूमिका
भाग 1 : सभ्यता, सुख और नियंत्रण
अध्याय 1- सभ्यता की मूल बेचैनी
अध्याय 2- आशा का लोप और आधुनिक गुलामी
अध्याय 3- मानव स्वभाव और ताप का सिद्धांत
भाग 2 : सत्ता की कार्यप्रणाली
अध्याय 4- सत्ता का केन्द्रीयकरण और व्यक्ति का विघटन
अध्याय 5- भ्रष्ट सत्ता : रोग या रणनीति?
अध्याय 6- सामान्य का अपराधीकरण
अध्याय 7- डर का प्रशासन
भाग 3 : मन, धर्म और वैचारिक भ्रम
अध्याय 8- धर्म का सम्प्रदाय में पतन
अध्याय 9- विचारधाराएँ और नैतिक सापेक्षता
भाग 4 : आधुनिक दासता
अध्याय 10- बिना जंजीर का गुलाम
अध्याय 11- आक्रोश में डूबा व्यक्ति
भाग 5 : प्रश्न और संभावना
अध्याय 12- लोकतंत्र का उद्विकासन या उसका अंत
अध्याय 13- क्या पतन अपरिहार्य है?
अध्याय 14- आशा की पुनर्संरचना

भूमिका

ज्ञान तत्व का यह अंक 'ज्ञानेन्द्र आर्य जी' की पुस्तक 'आशा खोती मानवता' के रूप में प्रकाशित है। आशा खोती मानवता नामक पुस्तक किसी घटना से नहीं, एक बेचैन प्रश्न से शुरू होती है। यह सामाजिक परिदृश्य है कि आज का मनुष्य पहले से अधिक शिक्षित है, अधिक साधन-संपन्न है, अधिक जुड़े हुए नेटवर्क में जी रहा है, फिर भी वह अधिक असुरक्षित, क्रोधित और स्वार्थी क्यों दिखाई देता है?

हिंसा अब केवल हथियारों में नहीं, भाषा में भी है। स्वार्थ अब केवल लालच नहीं, जीवन पद्धति बन चुका है। यह पुस्तक इसी असहजता से जन्म लेती है। आमतौर पर हम इस स्थिति के लिए व्यक्ति को दोषी ठहराते हैं, उसकी नैतिक कमजोरी, उसकी संवेदनहीनता, उसकी महत्वाकांक्षा। लेकिन यह पुस्तक उस सरल निष्कर्ष से असहमति रखती है। इसका आग्रह है कि व्यक्ति के पतन से पहले व्यवस्था के चरित्र को देखा जाए। जब सत्ता का उद्देश्य नियंत्रण बन जाए; जब धर्म, करुणा के बजाय पहचान में बदल जाए, जब विचारधाराएँ विवेक का स्थान ले लें और जब लोकतंत्र सहभागिता के बजाय केवल प्रक्रिया रह जाए, तब व्यक्ति का टूटना असामान्य नहीं रहता।

इस पुस्तक का विषय सत्ता परिवर्तन नहीं है, बल्कि मानव स्वभाव में हो रहे परिवर्तन का विवेचन है। यहाँ सत्ता को केवल सरकार के रूप में नहीं देखा गया है, बल्कि उस मानसिक, सामाजिक और वैचारिक संरचना के रूप में समझा गया है। जो व्यक्ति को धीरे, धीरे निर्णयहीन, निर्भर और भयभीत बनाती है। यह पुस्तक दिखाने का प्रयास करती है कि आधुनिक दासता जंजीरों से नहीं, बल्कि सुविधा, सहमति और सुरक्षा के वादे से पैदा होती है।

यह कृति किसी विचारधारा का समर्थन नहीं करती, न ही किसी राजनीतिक व्यवस्था का खंडन मात्र है। यह एक दार्शनिक–राजनीतिक विमर्श है, जो प्रश्न उठाता है उत्तर थोपता नहीं।

यह पुस्तक यह भी नहीं मानती कि हिंसा और स्वार्थ किसी एक समुदाय, वर्ग या समय की समस्या हैं। वे तब जन्म लेते हैं जब समाज अपने नैतिक उपकरण राज्य को सौंप देता है, और स्वयं केवल उपभोक्ता या दर्शक बनकर रह जाता है। पुस्तक का अंतिम भाग किसी समाधान का दावा नहीं केवल एक दिशा का संकेत देता हैं।

जहाँ आशा, सत्ता या नेताओं से नहीं, बल्कि व्यक्ति की वापसी, समाज की सक्रियता और स्वतंत्रता के नैतिक अर्थ की पुनर्स्थापना से जुड़ती है।

यदि यह पुस्तक आपको असहज करती है, तो इसने अपना काम किया है। यदि यह आपको सहमत होने के बजाय सोचने पर मजबूर करती है, तो इसका उद्देश्य पूरा हुआ है। यह पुस्तक उन लोगों के लिए नहीं है, जो त्वरित उत्तर चाहते हैं। यह उनके लिए है, जो प्रश्नों के साथ जीने का साहस रखते हैं।

अध्याय – 1
सुख, शांति और नियंत्रण : सभ्यता की मूल बेचैनी

प्रजनन और संतान का संरक्षण प्रकृति का ऐसा नियम है, जिसका पालन हर जीव किसी न किसी रूप में करता ही है। मनुष्य भी इससे अछूता नहीं हो सकता था। यदि मनुष्य केवल इसी जैविक दायरे तक सीमित रहता, तो संभव है कि आज सृष्टि का स्वरूप कुछ और होता। किंतु मनुष्य ने जीव मात्र बने रहने से आगे बढ़कर मनुज बनने की आकांक्षा की। यही आकांक्षा सभ्यता और विकास के विविध आयामों को छूने की चाह में परिवर्तित हुई। जैसे - जैसे मनुष्य ने समूह बनाए, संसाधन साझा किए और भविष्य की कल्पना की, वैसे - वैसे उसे केवल अस्तित्व नहीं, बल्कि सुरक्षा, स्थिरता और आश्वासन की आवश्यकता महसूस होने लगी। अकेले जीवित रहना संभव था, पर सामूहिक रूप से सुखपूर्वक रहना अनिश्चित।

इसी अनिश्चितता को कम करने के प्रयास में सामाजिक अनुबंधों का एक जाल बुना गया। इन अनुबंधों ने व्यवहार को सीमित किया, अपेक्षाएँ तय की और टकराव को नियंत्रित करने का प्रयास किया। इसी प्रक्रिया से दो संस्थाएँ जन्म लेती हैं 'राज्य और धर्म'। राज्य ने बाह्य सुरक्षा और अनुशासन का भार संभाला, जबकि धर्म ने आंतरिक संयम और नैतिक दिशा देने का प्रयास किया। दोनों का उद्देश्य एक ही था अराजकता को रोके रखना और समाज को सांस लेने योग्य बनाना। समाज ने जब यह अनुभव किया कि केवल सभ्यता ही नहीं, बल्कि एक व्यक्ति के सुखपूर्वक जीवन - यापन के लिए शांति अनिवार्य है, तभी व्यवस्था की आवश्यकता स्पष्ट हुई। मनुष्य का कोई भी प्रयत्न चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामूहिक, अंततः किसी न किसी रूप में सुख की ओर ही उन्मुख रहता है। सुख की इस चाह के मनोवैज्ञानिक कारणों पर अलग से विचार किया जा सकता है, किंतु इस तथ्य से इनकार संभव नहीं कि मनुष्य की अंतिम आकांक्षा सुख का निरंतर बना रहना है। सुख का निरंतर मिलते रहना ज्ञान का विषय हो सकता है, पर सुख की खोज स्वयं जीवन की पहली जिजीविषा है। जीवित रहने की इच्छा से पहले, या उसके साथ - साथ, सुखी रहने की आकांक्षा जन्म लेती है। इसी आकांक्षा को व्यवस्थित करने के प्रयास में समाज ने धर्म और सत्ता जैसी संरचनाओं को स्वीकार किया।

सत्ता का उद्देश्य व्यक्ति की उच्छृंखलता पर बलपूर्वक नियंत्रण स्थापित करना रहा है। वह नियम बनाती है, दंड निर्धारित करती है और भय के माध्यम से अनुशासन सुनिश्चित करना चाहती है। इसके विपरीत धर्म हृदय - परिवर्तन के माध्यम से उसी उच्छृंखलता पर नियंत्रण देता है। वह 'होना चाहिए' के संदर्भ में उपदेश करता है और व्यक्ति की आंतरिक स्वीकृति पर निर्भर रहता है। एक बाहरी अनुशासन है, दूसरा आंतरिक आग्रह।सभ्यता की स्थिरता इसी द्वैत पर टिकी रही, देह को नियंत्रित करने के लिए सत्ता और मन को दिशा देने के लिए धर्म। जब तक ये दोनों अपनी सीमाओं में रहे, समाज सांस लेता रहा।

Ayn Rand "When you see that trading is done not by consent but by compulsion..." (भावार्थ) "जब व्यवस्था स्वैच्छिक सहयोग के बजाय बाध्यता पर टिकने लगे, तो समझ लेना चाहिए कि नैतिक पतन शुरू हो चुका है।" इतिहास का सर्वाधिक काला दिन वह होगा या शायद हो चुका है, जिस दिन सत्ता और धर्म ने परस्पर गठजोड़ कर लिया। यह गठजोड़ असामान्य नहीं, बल्कि भयावह है। एक ओर देहधारी संगठन है, जिसके पास बल और संसाधन हैं; दूसरी ओर अभौतिक सत्ता है, जो मन, भय और आस्था पर अधिकार रखती है। जब देह और मन दोनों पर एक ही लक्ष्य का नियंत्रण स्थापित हो जाए, तो समाज रूपी आत्मा का पतन अवश्यंभावी हो जाता है।

विडंबना यह है कि न सत्ता का लक्ष्य सुख रहा है, न धर्म का। सत्ता शक्ति, विस्तार और नियंत्रण की बीमारी से ग्रस्त हो जाती है, और धर्म धीरे - धीरे उसके निहितार्थ के स्थान पर पहचान, और करुणा के स्थान पर आग्रह को चुन लेता है। परिणामस्वरूप सत्ता भ्रष्टाचार, धनलिप्सा और अपराध की ओर झुकती है, और धर्म भ्रम, अवसाद और साम्प्रदायिक संकीर्णता में सिमट जाता है। जब समाज की प्रत्येक इकाई अपने मूल उद्देश्य से विचलित हो जाए, तब व्यक्ति का टूटना अपरिहार्य हो जाता है। आज का व्यक्ति स्वार्थ और आक्रोश में आकंठ डूबा हुआ है। वह केवल शोषित नहीं है; वह स्वयं भी शोषण करने को तत्पर है। भ्रष्टाचार अब अपवाद नहीं, व्यवहार बन चुका है। धर्म अब संप्रदाय बनकर केवल संख्या गिनने में व्यस्त है, और राज्य संघर्ष, षड्यंत्र और सत्ता - संरक्षण का गढ़ बन चुका है। राज्य, जिसके पास संगठन की शक्ति है, वह उस शक्ति का अधिकतम केंद्रीकरण चाहता है - भले ही उसकी कीमत व्यक्ति की स्वतंत्रता ही क्यों न हो। तीर और तलवार से लड़े जाने वाले युद्धों का युग समाप्त हो चुका है। आज न जंजीरें दिखाई देती हैं, न कारागार अनिवार्य हैं। फिर भी मानवता यह दावा नहीं कर सकती कि वह स्वतंत्र है। नियंत्रण अब दृश्य नहीं, संरचनात्मक है; दमन अब हिंसक नहीं, स्वीकृत है। यह अध्याय किसी निष्कर्ष के लिए नहीं, बल्कि एक प्रश्न के लिए है। क्या आज की राज्य-व्यवस्था वास्तव में बीमार है, या वह सुनियोजित रूप से ऐसी दिखाई जा रही है? और यदि यह बीमारी नहीं, बल्कि रणनीति है, तो उसका उद्देश्य क्या है? आने वाले अध्यायों में हम इसी प्रश्न के सबसे मानवीय पक्ष से शुरुआत करेंगे - **जब आशा क्षीण होती है, तब व्यक्ति कैसे आज्ञाकारी बनता है।**

अध्याय – 2
आशा का लोप और आधुनिक गुलामी

मनुष्य को नियंत्रित करने के लिए सबसे प्रभावी साधन कभी शारीरिक बल नहीं रहा। बल दिखाई देता है, और जो दिखाई देता है, उसका विरोध भी दिखाई देने लगता है।

इतिहास गवाह है कि जहाँ अत्याचार प्रत्यक्ष होता है, वहाँ प्रतिरोध देर-सवेरे जन्म लेता ही है। इसलिए सत्ता जितनी परिपक्व होती गई, उतनी ही उसने हिंसा से दूरी और मनोवैज्ञानिक नियंत्रण से निकटता बढ़ाई।

इस मनोवैज्ञानिक नियंत्रण का सबसे निर्णायक औज़ार है "आशा"।

आशा केवल भावनात्मक शब्द नहीं है। यह वह मानसिक स्थिति है, जिसमें व्यक्ति मानता है कि वर्तमान अंतिम नहीं है। एक किसान फसल बोता है क्योंकि उसे आशा है। एक छात्र परीक्षा की तैयारी करता है क्योंकि उसे आशा है। एक मज़दूर कठिन श्रम सहता है क्योंकि उसे लगता है कि कल कुछ बेहतर हो सकता है। जहाँ आशा होती है, वहाँ मनुष्य कठिनाइयों को स्वीकार तो करता है, पर उन्हें नियति नहीं मानता। **V. S. Naipaul कहते हैं कि** "सभ्यता तब कमजोर होने लगती है जब वह अपने ही विचारों पर विश्वास खो देती है।"

यही कारण है कि आशावान व्यक्ति सत्ता के लिए सबसे अधिक असुविधाजनक होता है। वह प्रश्न करता है। वह तुलना करता है। वह पूछता है "ऐसा ही क्यों?" आधुनिक सत्ता इस प्रश्न से डरती है, पर उसे दबाने के लिए वह सीधे आशा को नष्ट नहीं करती। तीव्र निराशा खतरनाक होती है। पूरी तरह टूटा हुआ व्यक्ति या तो आत्मघात करता है, या विस्फोट। इसके बजाय सत्ता आशा को धीरे-धीरे क्षीण करती है 'इतना कि व्यक्ति जीवित रहे' काम करता रहे, पर अपेक्षा करना छोड़ दे।

उसे सिखाया जाता है

... कि, व्यवस्था जैसी है, वैसी ही रहेगी।

... कि, परिवर्तन अव्यावहारिक है।

... कि, प्रश्न करना भोलेपन की निशानी है।

और यहीं से आधुनिक गुलामी का आरंभ होता है। यह गुलामी जंजीरों में नहीं, आदतों में दिखाई देती है। व्यक्ति सुबह उठता है, काम पर जाता है, नियमों का पालन करता है, अपमान सहता है और रात को स्वयं को समझाता है "सबके साथ यही होता है।" वह इसे अन्याय नहीं, यथार्थ कहने लगता है। धीरे-धीरे वह यह भूल जाता है कि कभी उसने कुछ और भी चाहा था। यह गुलामी इसलिए खतरनाक है क्योंकि इसमें गुलाम स्वयं को गुलाम नहीं मानता। वह कहता है मेरे पास विकल्प हैं। वह मोबाइल बदल सकता है, चैनल बदल सकता है, विचारधारा बदल सकता है, वोट दे सकता है। ... पर जिन प्रश्नों से सत्ता की संरचना प्रभावित होती है मसलन न्याय, संसाधन, गरिमा उन पर उसका चयन निष्प्रभावी बना दिया जाता है। चुनाव का भ्रम बना रहता है, पर निर्णय कहीं और हो चुके होते हैं। आशा का क्षरण छोटे - छोटे अनुभवों से होता है। जब ईमानदार व्यक्ति बार-बार हाशिए पर धकेला जाता है। जब नियम तोड़ने वाला सफल होता दिखाई देता है। जब असहमति रखने वाला 'समस्या' कहलाता है। इन अनुभवों के बाद व्यक्ति विद्रोही नहीं बनता, वह थक जाता है। थकी हुई चेतना सवाल नहीं करती। वह केवल इतना चाहती है कि उसे परेशान न किया जाए। यह थकान ही आधुनिक सत्ता की सबसे बड़ी पूंजी है। थका हुआ व्यक्ति कहता है - "मैं क्या कर सकता हूँ?" यही वाक्य आधुनिक गुलामी का सबसे ईमानदार स्वीकार है। इस स्वीकार के बाद व्यक्ति आदेश का पालन ही नहीं करता, वह अपने पालन को नैतिक भी मान लेता है। वह स्वयं को निर्दोष समझता है, क्योंकि उसने "कुछ किया ही नहीं।" इस स्थिति में नैतिक जिम्मेदारी धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है। ऐसा समाज न तो जागरूक होता है, न विद्रोही। वह केवल प्रतिक्रियाशील होता है, कभी डर से, कभी आक्रोश से, कभी भावनात्मक उछाल से। ये उछाल क्षणिक होते हैं, पर नियंत्रण के लिए पर्याप्त।

इस अध्याय का उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि हर व्यक्ति गुलाम है, बल्कि यह समझना है कि गुलामी अब कैसे संभव होती है, बल से नहीं, सहमति से। हिंसा से नहीं, थकान से। दमन से नहीं, आशा के क्षरण से। यदि आशा व्यक्ति को स्वतंत्र बनाती है, तो उसका लोप उसे आज्ञाकारी बनाता है। यही वह बिंदु है जहाँ प्रश्न और गहरा हो जाता है। क्या आशा का यह क्षरण स्वाभाविक सामाजिक प्रक्रिया है, या इसे जानबूझकर पोषित किया जाता है? और यदि यह पोषित किया जाता है, तो किन मानसिक प्रवृत्तियों के सहारे? इसका उत्तर मनुष्य के भीतर छिपा है उसके भय में, उसकी असुरक्षा में और उसके आक्रोश में। अगला अध्याय वहीं से शुरू होगा –

मानव स्वभाव और ताप वृद्धि का सिद्धांत।

अध्याय – 3

मानव स्वभाव और ताप वृद्धि का सिद्धांत

स्वामी दयानंद सरस्वती लिखते हैं कि "मनुष्य का पतन तब प्रारंभ होता है जब वह सत्य की खोज छोड़कर सुविधा को स्वीकार कर लेता है।"

मनुष्य को समझने की अधिकांश कोशिशें उसे तर्कशील प्राणी के रूप में देखने से शुरू होती हैं। यह दृष्टि सुविधाजनक है, पर अधूरी। मनुष्य केवल तर्क से नहीं, बल्कि भावनाओं, भय और अपेक्षाओं से संचालित होता है। उसका व्यवहार अक्सर उस स्थिति से जन्म लेता है, जिसमें उसका मन रखा गया है, न कि उस सिद्धांत से, जिसे वह सही मानता है। यहीं से "मानव स्वभाव के ताप" की अवधारणा सामने आती है। ताप यहाँ शारीरिक नहीं, मानसिक है। जैसे किसी धातु का ताप बढ़ने पर उसकी संरचना बदल जाती है, वैसे ही मनुष्य का आंतरिक ताप बढ़ने पर उसका व्यवहार, उसकी नैतिकता और उसका विवेक परिवर्तित होने लगता है। शांत मन प्रश्न करता है, विचार करता है और संतुलन खोजता है। उग्र मन प्रतिक्रिया करता है, दोष खोजता है और तात्कालिक समाधान चाहता है। इसी अंतर को हम रोज़मर्रा के जीवन में देखते हैं। एक ही व्यक्ति, जो शांत अवस्था में सड़क पर किसी अजनबी

की मदद कर सकता है, वही व्यक्ति भीड़ में आक्रामक हो जाता है। दफ्तर में अपमान झेलकर लौटता व्यक्ति घर में क्रोधित रहता है। समस्या तर्क की कमी नहीं, ताप की अधिकता होती है। मानव स्वभाव मूलतः न तो हिंसक है, न नैतिक। वह परिस्थितिजन्य है। जब मनुष्य स्वयं को सुरक्षित अनुभव करता है, तब उसके भीतर सहयोग, करुणा और विवेक पनपते हैं। इसके विपरीत, जब असुरक्षा स्थायी हो जाती है, तब वही मनुष्य संदेहशील, आक्रामक और आत्मकेंद्रित बन जाता है। यह परिवर्तन किसी वैचारिक शिक्षा से नहीं, बल्कि उस पर लगातार बने रहने वाले मानसिक दबाव से होता है।

भय इस ताप का पहला स्रोत है।

यह भय केवल मृत्यु का नहीं होता। वह नौकरी छिन जाने का हो सकता है, सामाजिक प्रतिष्ठा गिरने का, या भीड़ से अलग दिखने का। एक कर्मचारी अन्याय देखता है, पर बोलता नहीं, क्योंकि उसे “समस्या पैदा करने वाला” कहलाने का डर है। एक छात्र प्रश्न पूछना चाहता है, पर चुप रहता है, क्योंकि उसे लगता है कि सवाल पूछना अब जोखिम है। जब भय अस्थायी होता है, तब वह सतर्कता पैदा करता है। लेकिन जब भय रोज़मर्रा का अनुभव बन जाए, तब वह मनुष्य के भीतर उबाल पैदा करता है। यह उबाल सोच को संकुचित करता है। ऐसे मन में जटिल प्रश्न बोझ लगने लगते हैं। सरल उत्तर, सरल दुश्मन और स्पष्ट पहचान आकर्षक प्रतीत होती है। व्यक्ति कारण नहीं खोजता, लक्ष्य खोजता है। वह समस्या की जड़ नहीं, चेहरा चाहता है।

आक्रोश इस ताप का दूसरा चरण है।

भय भीतर दबा रहे तो वह आक्रोश में बदलता है। यह आक्रोश प्रायः सत्ता की ओर नहीं जाता, क्योंकि सत्ता दूर और अमूर्त होती है। वह पास के व्यक्ति पर उतरता है, पड़ोसी पर, किसी कमजोर समुदाय पर, या सामाजिक माध्यमों पर किसी अनजान चेहरे पर। भीड़ में खड़ा व्यक्ति अचानक चिल्लाने लगता है। ऑनलाइन मंचों पर सामान्य नागरिक अपमानजनक भाषा में बात करने लगता है। आक्रोश उसे क्षणिक शक्ति का अनुभव कराता है। यह शक्ति वास्तविक नहीं होती, पर मनुष्य को राहत देती है। और यही राहत सत्ता के लिए उपयोगी होती है। उग्र व्यक्ति प्रश्न नहीं करता, वह निर्देश चाहता है। असुरक्षा इस ताप को स्थायी बनाए रखती है। जब भविष्य अनिश्चित हो, श्रम का मूल्य संदिग्ध हो और सम्मान अस्थिर हो, तब मनुष्य निरंतर तनाव में जीता है। वह योजना नहीं बनाता, केवल प्रतिक्रिया करता है। धीरे - धीरे यह तनाव सामान्य अवस्था बन जाता है। व्यक्ति इसे अपना स्वभाव मानने लगता है, “आज का समय ही ऐसा है।” यहीं तनाव ग्रस्त मानव स्वभाव और संकुचित सामाजिक संरचना का सबसे घातक संगम होता है। सत्ता यदि चाहे तो इस ताप को कम कर सकती है न्याय, पारदर्शिता और सुरक्षा के सहज सरल माध्यमों की रचना कर सकती है। किंतु केंद्रीकृत सत्ता अक्सर इसके विपरीत करती है। वह ऐसी नीतियों का निर्माण करती है जो नागरिकों को अपराधबोध से ग्रस्त करती है, असुरक्षा को स्थायी रखती है और आक्रोश को दिशा देती है। यह प्रक्रिया अव्यवस्था नहीं, बल्कि रणनीति होती है।

ताप में रखा गया समाज अधिक आज्ञाकारी होता है।

अध्याय – 4
सत्ता का केन्द्रीयकरण और व्यक्ति का विघटन

सत्ता, स्वयं को कभी नियंत्रण की इच्छा के रूप में प्रस्तुत नहीं करती। वह व्यवस्था, स्थिरता और सुरक्षा की भाषा में बोलती है। उसके तर्क सदैव यही होते हैं कि समाज को एक दिशा चाहिए, निर्णय में गति चाहिए और अराजकता से बचाव आवश्यक है। इन्हीं तर्कों के भीतर शक्ति के केन्द्रीयकरण का बीज छिपा होता है।

Ayn Rand का प्रसिद्ध कथन है कि “The smallest minority on earth is the individual. Those who deny individual rights cannot claim to be defenders of minorities.” धरती पर सबसे छोटा अल्पसंख्यक समूह व्यक्ति है। जो लोग व्यक्तिगत अधिकारों को नकारते हैं, वे अल्पसंख्यकों के रक्षक होने का दावा नहीं कर सकते। सत्ता के लिए शक्ति का केंद्रित होना केवल सुविधा का प्रश्न नहीं, बल्कि अस्तित्व का प्रश्न होता है। विखंडित शक्ति प्रश्न पैदा करती है। अनेक निर्णय तुलना को जन्म देते हैं और तुलना से असहमति जन्म लेती है। इसीलिए सत्ता स्वभावतः केन्द्रीयकरण की ओर झुकती है।

केन्द्रीयकरण का अर्थ केवल यह नहीं कि निर्णय एक स्थान से लिए जाएँ। इसका वास्तविक अर्थ है ‘अधिकार, संसाधन और वैधता’ का एक दिशा में प्रवाहित होना। जब शक्ति केंद्रित होती है, तब आदेश स्पष्ट हो जाते हैं और उत्तरदायित्व धुंधला। यह स्थिति सत्ता के लिए अत्यंत अनुकूल होती है। इसके विपरीत, सत्ता जिस व्यवस्था से सबसे अधिक असहज होती है, वह है शक्ति का नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित होना। यहीं विकेंद्रित और अकेंद्रित सत्ता का भेद स्पष्ट करना आवश्यक है। विकेंद्रित सत्ता में शक्तियाँ ऊपर से नीचे की ओर बाँटी जाती हैं। निर्णय के स्तर कई हो सकते हैं, किंतु शक्ति का स्रोत अंततः केंद्र में ही बना रहता है। स्थानीय इकाइयाँ अधिकार का प्रयोग करती हैं, पर अधिकार प्रदान नहीं करतीं। इसके विपरीत, अकेंद्रित सत्ता में शक्ति का प्रवाह नीचे से ऊपर की ओर होता है। व्यक्ति और स्थानीय इकाइयाँ अपनी से बड़ी इकाइयों को अधिकार और दायित्व सौंपती हैं। इस व्यवस्था में प्रभुत्व केंद्र का नहीं, समुदाय का होता है। सत्ता

आदेश से नहीं, विश्वास और सहभागिता से संचालित होती है। यही कारण है कि अकेंद्रित सत्ता 'सत्ता-तंत्र' को सबसे अधिक असहज करती है, क्योंकि इसमें शक्ति को वापस लिया भी जा सकता है। सत्ता को यह असहजता स्वीकार नहीं। इसलिए वह अकेंद्रित व्यवस्था को अव्यावहारिक, अव्यवस्थित या अविकसित कहकर खारिज करती है, और विकेंद्रण को ही अपनी अधिकतम रियायत के रूप में प्रस्तुत करती है।

यहीं से व्यक्ति के विघटन की प्रक्रिया शुरू होती है।

सत्ता के लिए व्यक्ति तब तक समस्या नहीं होता, जब तक वह केवल एक शरीर है। समस्या तब बनता है, जब वह चेतना बनता है, जब वह सोचता है, प्रश्न करता है और तुलना करता है। इसलिए सत्ता व्यक्ति को सहभागी नागरिक के रूप में नहीं, बल्कि प्रबंधनीय इकाई के रूप में देखना चाहती है। एक छोटा दृश्य इसे स्पष्ट करता है। एक व्यक्ति किसी सार्वजनिक कार्यालय में जाता है। वह अपनी बात एक नागरिक के रूप में नहीं, बल्कि एक फ़ाइल, एक संख्या और एक प्रक्रिया के रूप में रखता है। उससे पूछा जाता है - आप किस श्रेणी में आते हैं, आपका कोड क्या है, आपकी पात्रता क्या है। उसके तर्क, अनुभव और नैतिक आग्रह अप्रासंगिक हो जाते हैं। निर्णय उसके सामने नहीं, उसके ऊपर कहीं और लिया जाता है। वह लौटते समय स्वयं को व्यक्ति नहीं, एक अधूरी प्रविष्टि महसूस करता है। यही व्यक्ति का इकाई में रूपांतरण है। यह रूपांतरण तीन चरणों में होता है।

पहला - पहचान का सरलीकरण। व्यक्ति को उसके विचारों से नहीं, उसकी श्रेणी से जाना जाता है।

दूसरा - भूमिका का संकुचन। व्यक्ति 'क्या सोचता है' से अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि वह 'क्या करता है' और 'कितना उपयोगी है'।

तीसरा - असहमति का अपमान। प्रश्न को अधिकार नहीं, बाधा माना जाता है।

इन चरणों से गुजरने के बाद व्यक्ति सत्ता के लिए जोखिम नहीं रहता। इकाइयाँ विद्रोह नहीं करतीं। वे केवल प्रतिक्रिया करती हैं। सत्ता को इस प्रक्रिया से अनेक लाभ मिलते हैं।

पहला - पूर्वानुमेयता; दूसरा - दायित्व से मुक्ति; तीसरा - स्थायी नियंत्रण

यहाँ समस्या सत्ता का अस्तित्व नहीं, उसका केंद्रीकरण है। जब सत्ता स्वयं को अपरिहार्य मानने लगती है, तब वह व्यक्ति को अधीन और समुदाय को अप्रासंगिक बना देती है। यही वह बिंदु है जहाँ 'सत्ता का केन्द्रीयकरण' और 'व्यक्ति का विघटन' एक - दूसरे के पूरक बन जाते हैं। व्यक्ति का विघटन होना केन्द्रित सत्ता के लिए सुविधाजनक है और क्रमशः अधिक केंद्रीकृत सत्ता व्यक्ति के विघटन के संसाधन जुटाते हैं। यह अध्याय किसी शासन - रूप का आरोप नहीं, बल्कि सत्ता - तर्क की पहचान है। अब प्रश्न यह नहीं कि सत्ता क्या करती है, बल्कि यह है कि क्या सत्ता का भ्रष्ट होना एक दुर्घटना है, या शक्ति के केन्द्रीयकरण का स्वाभाविक परिणाम।

अगला अध्याय इसी प्रश्न को सीधे उठाएगा - **भ्रष्ट सत्ता रोग या रणनीति?**

अध्याय – 5
भ्रष्ट सत्ता : रोग या रणनीति?

सत्ता जब स्वयं को भ्रष्ट कहती है, तब वह अनजाने में अपने लिए सबसे सुरक्षित ढाल बना रही होती है। 'प्रणाली में खामी है', 'कुछ लोग गलत हैं', 'सुधार की आवश्यकता है' ये वाक्य सत्ता को जवाबदेही के नैतिक कटघरे से बाहर निकाल देते हैं। भ्रष्टाचार को यदि रोग मान लिया जाए, तो सत्ता स्वतः चिकित्सक बन जाती है।

यही पहला भ्रम है।

यदि भ्रष्टाचार केवल अपवाद होता, तो उसे सुधारों से रोका जा सकता था। यदि वह कुछ व्यक्तियों की नैतिक विफलता होता, तो उनके हटने से व्यवस्था स्वस्थ हो जाती। किंतु जब भ्रष्टाचार बार - बार लौटता है, रूप बदलता है, और हर सुधार के बाद भी जीवित रहता है, तब प्रश्न उठता है - क्या यह बीमारी है, या सत्ता के शरीर में जानबूझकर छोड़ा गया ताप? भ्रष्ट सत्ता स्वयं को अव्यवस्थित नहीं दिखाती। वह केवल **चयनात्मक रूप से अव्यवस्थित** होती है।

कुछ नियम कठोरता से लागू होते हैं, कुछ अनदेखे रह जाते हैं। कुछ मामलों में त्वरित कार्रवाई होती है, कुछ वर्षों तक धूल खाते रहते हैं। यह असमानता आकस्मिक नहीं होती। यह सत्ता को दोहरे लाभ देती है - नियंत्रण और सौदेबाज़ी।

सामाजिक उदाहरण - एक छोटा व्यापारी सभी कागज़ पूरे करके लाइसेंस के लिए आवेदन करता है। महीनों तक फ़ाइल चलती रहती है। हर बार कोई नया नियम, कोई नया प्रमाण। अंततः एक कर्मचारी अनौपचारिक स्वर में कहता है - "आप समझदार आदमी हैं, ऐसे काम नियम से नहीं चलते।" व्यापारी को पहली बार एहसास होता है कि समस्या कानून में नहीं, प्रक्रिया में है। जब उसका काम हो जाता है, तब वह राहत महसूस करता है, अपराधबोध नहीं। अगली बार वह सीधा उसी रास्ते को ढूँढेगा। ... यहीं नागरिक, याचक में बदल जाता है।

भ्रष्टाचार का पहला लाभ है **निर्भरता।**

जब व्यवस्था सीधी नहीं रहती, तब व्यक्ति अधिकार नहीं, रास्ता खोजता है। वह नियम नहीं, संपर्क ढूँढता है। धीरे - धीरे वह पूछना छोड़ देता है कि "मेरा हक़ क्या है" और सीख लेता है कि "काम कैसे निकलता है।" याचक प्रश्न नहीं करता, वह अनुरोध करता है। यही परिवर्तन सत्ता के लिए सबसे उपयोगी होता है।

दूसरा लाभ है—चयनात्मक दमन।

भ्रष्ट व्यवस्था में लगभग हर कोई किसी न किसी स्तर पर दोषी होता है - कभी समझौते से, कभी चुप्पी से। यह दोष वास्तविक हो या कृत्रिम, महत्व उसका नहीं, उपयोग का होता है। सत्ता जब चाहे, नियम दिखा सकती है। जब चाहे, अनदेखा कर सकती है।

सामाजिक उदाहरण - एक सरकारी कार्यालय में वर्षों से काम कर रहा कर्मचारी जानता है कि प्रक्रियाएँ पूरी तरह साफ नहीं हैं। उसने भी कई बार 'व्यवहारिक समाधान' अपनाए हैं। जब वह किसी निर्णय पर सवाल उठाता है, तो उसे निजी तौर पर याद दिलाया जाता है "आपका भी रिकॉर्ड बिल्कुल साफ नहीं है।" कोई धमकी नहीं दी जाती, केवल संकेत। इसके बाद वह चुप रहना सीख लेता है। असहमति जोखिम बन जाती है। ... अस्थायी व्यक्ति विद्रोही नहीं होता। **तीसरा लाभ है—नैतिक भ्रम।**

जब नियम स्वयं अस्पष्ट हों, तब सही और गलत की रेखा धुंधली हो जाती है। व्यक्ति कहता है - "सब ऐसा ही करते हैं।" यह वाक्य भ्रष्ट सत्ता की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इसके बाद अपराध व्यक्तिगत नहीं रहता, सामाजिक स्वीकृति बन जाता है। ... यहीं अपराध का सामान्यीकरण होता है। छोटे समझौते, बड़े अपराधों की भूमिका बनते हैं। व्यक्ति स्वयं को दोषी नहीं मानता, क्योंकि उसने "कुछ असामान्य" नहीं किया। इस प्रक्रिया में नैतिकता नियम की दया पर निर्भर हो जाती है। भ्रष्ट सत्ता स्वयं को कमजोर नहीं, बल्कि अपरिहार्य बनाती है। वह यह संदेश देती है कि बिना उसके हस्तक्षेप के कोई काम संभव नहीं। हर अनुमति, हर स्वीकृति, हर सुविधा सत्ता के किसी न किसी द्वार से होकर गुजरती है। यह द्वार जितना अपारदर्शी होता है, सत्ता उतनी ही स्थायी होती है।

यह कहना सरल है कि भ्रष्टाचार व्यवस्था को खोखला कर देता है। अधिक कठिन यह स्वीकार करना है कि कई बार वही भ्रष्टाचार व्यवस्था को टिकाए भी रखता है - डर, निर्भरता और सौदेबाज़ी के माध्यम से। इसका अर्थ यह नहीं कि हर सत्ता जानबूझकर भ्रष्ट होती है। किंतु यह अवश्य है किकेंद्रीकृत सत्ता के लिए भ्रष्टाचार उपयोगी हो सकता है। वह इसे पूरी तरह समाप्त नहीं करती, केवल नियंत्रित करती है - जितना आवश्यक हो, उतना। यहीं रोग और रणनीति के बीच की रेखा धुंधली हो जाती है। यदि भ्रष्टाचार वास्तव में रोग होता, तो उसे जड़ से हटाने की इच्छा दिखाई देती। यदि वह रणनीति है, तो उसे सुधार की भाषा में ढँक कर जीवित रखा जाता है। यह अध्याय किसी आरोप के लिए नहीं, बल्कि एक चेतावनी के लिए है। जब सत्ता स्वयं को शुद्ध बताने लगे, और समाज अपने छोटे अपराधों को सामान्य मानने लगे, तब समझना चाहिए कि भ्रष्टाचार केवल व्यवस्था की विफलता नहीं, बल्कि उसकी कार्यभाषा बन चुका है। अब प्रश्न यह नहीं है कि भ्रष्ट कौन है, बल्कि यह है किभ्रष्टाचार किसे लाभ पहुँचा रहा है। अगला अध्याय इसी प्रश्न को आगे ले जाएगा - जब अपराध सामान्य बन जाए, तब नैतिक व्यक्ति संदिग्ध क्यों हो जाता है?

सामान्य का अपराधीकरण

अध्याय – 6

सामान्य का अपराधीकरण

सत्ता जब अपराध से लड़ने की घोषणा करती है, तब सबसे पहले वह एक बुनियादी भ्रम पैदा करती है। वह अपराध, गैर कानूनी और अनैतिक को एक ही अर्थ में प्रस्तुत करने लगती है। यहीं से सामान्य का अपराधीकरण शुरू होता है। यदि इन तीनों के बीच विभाजन रेखा को स्पष्ट न रखा जाए, तो समाज अपराध से नहीं, बल्कि 'अपराध–बोध' से संचालित होने लगता है।

मौलिक विचारक **बजरंग मुनि के अनुसार-** इन तीनों की पहचान सत्ता की सुविधा से नहीं, बल्कि इस बात से तय होती है कि किस प्रकार के अधिकार का उल्लंघन हुआ है।

अपराध का अर्थ : जब किसी व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का प्रत्यक्ष उल्लंघन होता है। जैसे हिंसा, बल प्रयोग, हत्या, डकैती, बलात्कार या धोखाधड़ी, तो वह अपराध है। अपराध का अर्थ किसी नियम का टूटना नहीं, बल्कि किसी मनुष्य की स्वतंत्रता का हनन है। इसीलिए अपराध को रोकना समाज और राज्य दोनों की संयुक्त जिम्मेदारी है, और इसमें कठोर दंड का नैतिक आधार भी मौजूद रहता है।

गैर कानूनी का अर्थ : जब सरकार द्वारा बनाए गए संवैधानिक या प्रशासनिक नियमों का उल्लंघन होता है, तो वह गैर-कानूनी कार्य कहलाता है। यहाँ उल्लंघन किसी व्यक्ति के अधिकार का नहीं, बल्कि राज्य की व्यवस्था का होता है। इसी कारण ऐसे मामलों में अर्थदंड, जुर्माना या सीमित दंड पर्याप्त होते हैं। इन्हें नैतिक अपराध की तरह प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं होता।

अनैतिक का अर्थ : अनैतिक वे कर्म हैं, जो समाज या परिवार की मान्यताओं के विरुद्ध माने जाते हैं - जैसे नशा, जुआ, वेश्यावृत्ति, दहेज या सामाजिक कुरीतियाँ। इनमें व्यक्ति किसी के अधिकारों का प्रत्यक्ष हनन नहीं करता, बल्कि सामाजिक संतुलन के लिए जोखिम उत्पन्न करता है।

बजरंग मुनि के अनुसार- अनैतिक आचरण पर प्रशासन को हस्तक्षेप का अधिकार नहीं होना चाहिए, जब तक कि स्वयं समाज इसकी माँग न करे। समाज ऐसे मामलों में स्वीकृति या बहिष्कार का मार्ग चुन सकता है, दंड का नहीं।

सत्ता की सुविधा समस्या तब शुरू होती है, जब सत्ता इन तीनों भेदों को जानबूझकर मिटा देती है। वह हर अनैतिक कर्म को अपराध कहने लगती है। हर गैर कानूनी चूक को नैतिक पतन घोषित करती है। और हर असहमति को सामाजिक खतरा बताने लगती है। इससे सत्ता को एक बड़ा लाभ मिलता है - **दंड देने का नैतिक बल।**

जब सामान्य व्यक्ति यह महसूस करने लगे कि वह किसी न किसी रूप में दोषी है, तो वह प्रश्न नहीं करता। वह पहले स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने में लग जाता है। यहीं सामान्य

का अपराधीकरण पूर्ण हो जाता है।

निषिद्ध क्षेत्र का विस्तार

अपराध बढ़ाने के लिए सत्ता को अपराध बढ़ाने की आवश्यकता नहीं होती। उसे केवल उस क्षेत्र का विस्तार करना होता है, जिसे वह निषिद्ध घोषित कर सके। जितना बड़ा निषिद्ध क्षेत्र, उतना व्यापक अपराध बोध। परिणाम यह होता है कि वास्तविक अपराधी व्यवस्था की जटिलताओं में सुरक्षित रहता है, और सामान्य नागरिक निरंतर भय में जीता है।

सत्ता के दस नाटक : इस व्यवस्था को बनाए रखने के लिए सत्ता कुछ स्थायी नाटकों का मंचन करती है -

1.समाज को धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र, उम्र, लिंग, वर्ग आदि में बाँटना

2.ऐसी समस्याओं के समाधान देना, जिनसे नई समस्याएँ जन्म लें

3.समस्या की प्रकृति के विपरीत समाधान लागू करना

4.'राष्ट्र' को 'समाज' से ऊपर स्थापित करना

5.तर्क के स्थान पर भावनात्मक मुद्दों को आगे लाना

6.शासक और शासित के बीच स्थायी भेद खड़ा करना

7.कानूनों का ऐसा जाल बुनना कि हर व्यक्ति अपराध, बोध में रहे

8.संघर्ष को जीवित रखकर उससे लाभ उठाना

9.आर्थिक असमानता को लगातार बढ़ने देना

10. जनकल्याण को प्राथमिक बताकर न्याय और सुरक्षा को पीछे करना

इन नाटकों का उद्देश्य अपराध रोकना नहीं, समाज को नियंत्रित करना होता है। जब अपराध, गैर, कानूनी और अनैतिक के बीच का भेद मिटा दिया जाता है, तो कानून न्याय का उपकरण नहीं रह जाता, वह सत्ता की भाषा बन जाता है। नैतिक व्यक्ति संदिग्ध हो जाता है। चुप व्यक्ति जिम्मेदार कहलाता है। और सामान्य नागरिक अपराधी, सा महसूस करने लगता है। यहीं से अगला चरण शुरू होता है। जब हर व्यक्ति अपराध बोध में जीने लगे, तो राजदंड का भय अपराधी के मन में नहीं, सामान्य नागरिक के मन में स्थानांतरित हो जाता है।

यही अगले अध्याय का विषय है **- डर का प्रशासन।**

अध्याय – 7
डर का प्रशासन

राज्य की वैधता का एक आधार सदैव राजदंड रहा है। राजदंड का उद्देश्य समाज को भयभीत करना नहीं था, बल्कि अपराध को निरुत्साहित करना था। उसका भय अपराधी के मन में होना चाहिए था, ताकि सामान्य नागरिक निर्भय होकर जीवन जी सके। यही वह संतुलन था, जिस पर न्याय और शांति टिके रहते थे। लेकिन जब अपराध की परिभाषा का विस्तार किया जाता है, तब राजदंड का भय भी अपना स्थान बदलने लगता है।

अध्याय–6 में हमने देखा कि सत्ता कैसे अपराध, गैर - कानूनी और अनैतिक के बीच का भेद मिटाती है और निषिद्ध क्षेत्र का विस्तार करती है। इस विस्तार का सीधा परिणाम यह होता है कि अपराधी कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं रह जाता। अपराध एक संभावना बन जाता है - ऐसी संभावना, जिसमें कोई भी, कभी भी, किसी भी क्षण फँस सकता है। यहीं से डर का प्रशासन आरंभ होता है। डर का प्रशासन दंड की कठोरता से नहीं, दंड की अनिश्चितता से काम करता है। व्यक्ति को यह स्पष्ट नहीं होता कि उसने क्या गलत किया है, बल्कि यह आशंका बनी रहती है कि कहीं उसका आचरण ही गलत न मान लिया जाए। इस स्थिति में राजदंड अपराधी को नहीं, सामान्य नागरिक को नियंत्रित करने लगता है। राजदंड अब न्याय का साधन नहीं रहता। वह एक वातावरण में बदल जाता है। **Eric Hoffer** – (The True Believer) "Mass movements can rise and spread without belief in a God, but never without belief in a devil." (भावार्थ) "जन-आंदोलन ईश्वर में विश्वास के बिना भी उठ सकते हैं और फैल सकते हैं, लेकिन किसी शैतान (दुश्मन) में विश्वास के बिना वे कभी संगठित नहीं होते।"

भय का स्थानांतरण

जिस भय को अपराधी के मन में होना चाहिए था, वह धीरे - धीरे सामान्य व्यक्ति के मन में प्रवाहित कर दिया जाता है। वास्तविक अपराध अक्सर व्यवस्था की जटिलताओं, प्रक्रियाओं और प्रभावों में सुरक्षित रहता है, जबकि साधारण नागरिक अपने शब्दों, व्यवहार और विचारों को तौल - तौलकर रखने लगता है। वह यह नहीं सोचता कि क्या सही है। वह यह सोचता है कि क्या सुरक्षित है। यही भय का स्थानांतरण है।

एक सामाजिक दृश्य - एक सामान्य व्यक्ति सार्वजनिक जीवन में भाग लेता है। वह न हिंसक है, न धोखेबाज़। फिर भी किसी मुद्दे पर बोलते समय वह रुकता है, शब्द बदलता है, या मौन चुन लेता है। उसे यह डर नहीं कि उसने अपराध किया है, बल्कि यह डर है कि कहीं उसके आचरण को अपराध घोषित न कर दिया जाए। दूसरी ओर, गंभीर अपराध प्रक्रिया और प्रभाव के जाल में उलझे रहते हैं। ... डर यहाँ दंड से नहीं, संभावना से उत्पन्न होता है।

डर का कार्य - तंत्र

डर का प्रशासन आदेश नहीं देता। वह उदाहरण प्रस्तुत करता है। वह यह नहीं बताता कि क्या अपराध है, वह यह दिखाता है कि किसे दंड मिल सकता है। इसीलिए डर का प्रशासन कम दंड देकर भी अधिक प्रभावी होता है। कुछ चुनिंदा कार्रवाइयाँ पूरे समाज के लिए चेतावनी बन जाती हैं। दंड का वास्तविक उद्देश्य दंडित करना नहीं, ... बल्कि

दिखाना होता है।

दूसरा सामाजिक दृश्य - एक व्यक्ति किसी सार्वजनिक निर्णय पर शांतिपूर्वक प्रश्न उठाता है। उसके प्रश्न में न अपमान है, न हिंसा। फिर भी उसे बताया जाता है कि "यह समय सवालों का नहीं है।" कोई तत्काल दंड नहीं दिया जाता, पर संकेत स्पष्ट होता है। अगली बार कई लोग स्वयं चुप रहना चुन लेते हैं। ... डर यहाँ बिना हस्तक्षेप के काम कर लेता है।

नैतिक निर्णय का क्षरण

जब भय स्थायी हो जाता है, तब व्यक्ति नैतिक निर्णय नहीं करता, केवल सुरक्षित निर्णय करता है। कानून जीवित रहता है, पर न्याय निष्क्रिय हो जाता है। विवेक पीछे हट जाता है और सावधानी सद्गुण बन जाती है। डर का प्रशासन सत्ता को तीन स्थायी लाभ देता है।

·असहमति अपराध बनने से पहले ही समाप्त हो जाती है।

·समाज आत्म - नियंत्रण की अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ निगरानी बाहरी नहीं, आंतरिक होती है।

·व्यक्ति थक जाता है, और थका हुआ मन विकल्प नहीं खोजता।

यह भय हमेशा प्रत्यक्ष रूप से थोपा नहीं जाता। कई बार इसे पोषित किया जाता है- अस्पष्ट कानूनों से, चयनात्मक कार्रवाइयों से और दंड की धुंधली संभावनाओं से। भय जितना अस्पष्ट होता है, उतना ही प्रभावी होता है।

निष्कर्ष

राजदंड तब तक न्याय का उपकरण रहता है, जब तक उसका भय अपराधी के मन में केंद्रित रहे। जिस क्षण वही भय सामान्य नागरिक के मन में स्थानांतरित कर दिया जाता है, राजदंड न्याय नहीं, शासन का उपकरण बन जाता है। यहीं डर का प्रशासन पूर्ण होता है।

भाग – 3 : मन, धर्म और वैचारिक भ्रम

अध्याय – 8

धर्म का संप्रदाय में पतन

आधुनिक समाज में सबसे बड़ा भ्रम यह है कि धर्म और संप्रदाय को एक मान लिया गया है। इसी भ्रम से टकराव, असहिष्णुता और वैचारिक हिंसा जन्म लेती है। जब तक इन दोनों के बीच का भेद स्पष्ट नहीं किया जाएगा, तब तक न धर्म को समझा जा सकता है, न समाज को। मौलिक विचारक बजरंग मुनि के अनुसार, धर्म और संप्रदाय का अंतर आस्था का नहीं, स्वरूप और उद्देश्य का है।

धर्म क्या है

धर्म कोई संगठन नहीं, कोई पंथ नहीं, और कोई पहचान - चिह्न भी नहीं है। धर्म एक जीवन–पद्धति है। धर्म गुण प्रधान होता है, संख्या प्रधान नहीं। मुनि जी धर्म का अर्थ इस प्रकार बताते है कि, 'किसी अन्य के हित में किया गया निःस्वार्थ कर्तव्य'। धर्म का संबंध अधिकार से नहीं, कर्तव्य से होता है। वह समाज को निर्देश नहीं देता, वह समाज का मार्गदर्शन करता है। धर्म का कोई भौतिक स्वरूप नहीं होता। वह मंदिर, मस्जिद, चर्च या पुस्तक में सीमित नहीं होता। वह आचरण में प्रकट होता है। इसी कारण धर्म मूलतः व्यक्तिगत होता है, भले ही उसका प्रभाव सामाजिक हो।

संप्रदाय क्या है

संप्रदाय एक संगठनात्मक संरचना है। वह उपासना–पद्धति, पूजा–विधान या किसी ग्रंथ के चारों ओर संगठित होता है। संप्रदाय का लक्ष्य गुण नहीं, संख्याहोता है। वह कर्तव्य नहीं, पहचान देता है।

जहाँ धर्म पूछता है - "मेरा आचरण क्या होना चाहिए?"

संप्रदाय पूछता है - "मेरे लोग कितने हैं?"

इसलिए संप्रदाय अधिकार प्रधान होता है, जबकि धर्म कर्तव्य प्रधान। संप्रदाय समाज का सहयोगी नहीं होता, वह समाज का प्रतिस्पर्धी बन जाता है। **धर्म और संप्रदाय का मूल अंतर**

धर्म	संप्रदाय
धर्म न्याय प्रधान होता है। धर्म दर्शन और विवेक पर टिका होता है। धर्म देश, काल और परिस्थिति के अनुसार स्वयं को संशोधित कर सकता है। धर्म व्यक्ति को स्वतंत्र मानता है।	**संप्रदाय अपनत्व प्रधान। संप्रदाय संस्कृति और आस्था पर। संप्रदाय में संशोधन संभव नहीं होता, क्योंकि आस्था जड़ होती है। संप्रदाय व्यक्ति को अपनी संगठनात्मक संपत्ति।**

यहीं से धर्म का पतन शुरू होता है।

ईश्वर और उपासना का भ्रम : धर्म को अक्सर ईश्वर और पूजा से जोड़ दिया जाता है, जबकि धर्म के पारंपरिक दस लक्षणों मेंईश्वर या उपासना का कोई उल्लेख नहीं है। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इंद्रिय–निग्रह, धीर, विद्या, सत्य और अक्रोध। ये सभी आचरण के गुण हैं, पूजा के नहीं। धर्म का उपासना से कोई अनिवार्य संबंध नहीं। उपासना संप्रदाय का क्षेत्र है। धर्म का नहीं।

उत्पत्ति का अंतर : धर्म शाश्वत होता है। उसका कोई प्रवर्तक नहीं होता। वह समय से पहले भी था, समय के बाद भी रहेगा। संप्रदाय का जन्म किसी व्यक्ति, ग्रंथ या ऐतिहासिक क्षण से होता है। जब कोई पंथ लंबे समय तक चलता है, तो वह स्वयं को धर्म कहना शुरू कर देता है। यहीं भ्रम स्थायी हो जाता है।

पतन की प्रक्रिया : धर्म तब संप्रदाय बनता है - जब वह कर्तव्य के स्थान पर अधिकार की बात करे। जब वह न्याय के स्थान पर पक्ष चुने। जब वह आचरण से अधिक पहचान पर ज़ोर दे। जब वह प्रश्न से अधिक अनुशासन माँगे।

और सबसे महत्वपूर्ण - जब वह वैचारिक धरातल पर दूसरे धर्मों से संवाद करने के बजाय प्रतिस्पर्धा करने लगे। बजरंग मुनि का कथन यहाँ निर्णायक है - **"जो धर्म वैचारिक धरातल पर दूसरे धर्म से प्रतिस्पर्धा नहीं करता, वह धर्म नहीं, संगठन है।"**

निष्कर्ष

यह अध्याय किसी धर्म के विरोध में नहीं है। यह धर्म केसंगठन में बदल जानेकी प्रक्रिया का विश्लेषण है। धर्म मनुष्य को नैतिक बनाता है। संप्रदाय उसे अनुयायी और अनुयायी सत्ता के लिए नैतिक व्यक्ति से कहीं अधिक उपयोगी होता है। यहीं से अगला प्रश्न जन्म लेता है - जब धर्म पहचान बन जाए और संगठन नैतिकता तय करने लगे, तो सही और गलत का निर्णय कौन करेगा?

अध्याय – 9
विचारधाराएँ और नैतिक सापेक्षता

जब धर्म संप्रदाय में बदलता है, तब वह संगठन का रूप ले लेता है। और जब संगठन विचार का वाहक बनता है, तब विचारधारा जन्म लेती है। विचारधारा का आकर्षण यह है कि वह व्यक्ति को सुरक्षा, पहचान और उद्देश्य का बोध कराती है। किंतु इसी प्रक्रिया में वह व्यक्ति से उसकी सबसे मूल्यवान पूँजी छीन लेती है 'स्वतंत्र विवेक'।

यहीं से नैतिक सापेक्षता का आरंभ होता है।

Eric Hoffer – The True Believer "A mass movement attracts and holds a following not because it can satisfy the desire for self-advancement, but because it satisfies the passion for self-renunciation." (भावार्थ) "जन-आंदोलन लोगों को व्यक्तिगत लाभ से नहीं, बल्कि अपने अहं और व्यक्तिगत पहचान को त्यागकर किसी बड़े उद्देश्य में विलीन होने की भावना से आकर्षित करते हैं।"

संगठन और स्वतंत्रता का अंत

मौलिक विचारकों के अनुसार, जैसे ही कोई व्यक्ति किसी संगठन से जुड़ता है, उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता उसी क्षण सीमित हो जाती है। संगठन में रहते हुए व्यक्ति के पास केवल एक स्वतंत्रता शेष रहती है संगठन छोड़ने की स्वतंत्रता। इसके अतिरिक्त उसकी सोच, आचरण और निर्णय संगठन के ढाँचे में समाहित हो जाते हैं। संगठन व्यक्ति को सदस्य नहीं मानता, वह उसे अपनी संपत्ति मानता है। यहीं व्यक्ति की स्वतंत्र पहचान समाप्त होती है और वह "हम" का हिस्सा बन जाता है।

अनुशासन बनाम विचार

हर संगठन अनुशासन की माँग करता है। परंतु हर संगठन विचार की स्वतंत्रता की गारंटी नहीं देता। संगठन में सहमति आवश्यक होती है। असहमति को अनुशासनहीनता माना जाता है। व्यक्ति किसी एक संगठन का सदस्य होते हुए किसी अन्य संगठन से स्वतंत्र रूप से नहीं जुड़ सकता। उसकी निष्ठा पूर्ण होनी चाहिए, आंशिक नहीं।

यहीं विचारधारा जन्म लेती है - जहाँ सोचना स्वतंत्र नहीं, निर्देशित होता है।

परिवार : पहली सांगठनिक इकाई

बजरंग मुनि के अनुसार, परिवार भी एक संगठन है और सबसे प्रभावशाली संगठन। परिवार में सदस्य का समर्पण पूर्ण होता है। उसकी न पृथक प्रतिबद्धता होती है, न पृथक निर्णय। परिवार यह तय करता है कि व्यक्ति क्या बनेगा, कितना सक्षम है, और कहाँ तक जाएगा। यहीं से व्यक्ति संगठनात्मक जीवन का अभ्यास करता है, जहाँ सामूहिक निर्णय, व्यक्तिगत विवेक से ऊपर रखे जाते हैं।

धर्म बनाम संगठन

धर्म	संगठन
धर्म व्यक्ति को स्वतंत्र मानता है।	**संगठन व्यक्ति को संसाधन।**
धर्म कर्तव्य प्रधान होता है।	**संगठन अधिकार प्रधान।**
धर्म गुण को महत्व देता है।	**संगठन संख्या को।**

इसी कारण संगठन शक्ति एकत्र करता है, और शक्ति के साथ नैतिकता को भी अपने अनुसार ढाल लेता है। यहीं नैतिकता सापेक्ष हो जाती है।

नैतिकता का पक्षपात

विचारधारा यह नहीं पूछती कि "क्या किसी के अधिकार का हनन हुआ?" वह पूछती है - "यह किस पक्ष के हित में है?" यदि कार्य अपने संगठन के हित में है, तो वह उचित ठहराया जाता है। यदि वही कार्य विरोधी पक्ष करे, तो वह अपराध बन जाता है। यही नैतिक सापेक्षता है।

सुरक्षा और शोषण

संगठन अपने भीतर के लोगों को सुरक्षा देता है। और बाहर के लोगों का शोषण करता है। संगठित समूह असंगठित व्यक्ति पर भारी पड़ता है। संगठन अपनी शक्ति के बल पर समाज और राज्य को ब्लैकमेल भी करता है। वर्ग-विद्वेष, वर्ग-संघर्ष और स्थायी तनाव इसी सांगठनिक विचारधारा की उपज हैं। बौद्धिक पतन संगठन स्वतंत्र चिंतन का शत्रु होता है। मुनि जी का स्पष्ट मत है - किसी विचारक को किसी संगठन का सदस्य नहीं होना चाहिए। क्योंकि संगठन में रहते हुए विचार मौलिक नहीं रहते, वे प्रेरित (motivated) हो जाते हैं। व्यक्ति सत्य नहीं खोजता, वह संगठन की स्थिति का बचाव करता है।

निष्कर्ष

सांगठनिक विचारधारा व्यक्ति को स्वतंत्र इकाई से बदलकर समूह की ईकाई बना देती है। उसकी सुरक्षा बढ़ सकती है, पर उसकी स्वतंत्रता, उसका विवेक और उसकी

नैतिक जिम्मेदारी धीरे - धीरे समाप्त हो जाती है। यहीं मनुष्य नैतिक प्राणी से वैचारिक सैनिक बनता है। और यही वह अवस्था है, जहाँ बिना जंजीर के भी गुलामी संभव हो जाती है। यहीं से अगला भाग आरंभ होता है।

भाग – 4 : आधुनिक दासता

अध्याय – 10

बिना जंजीर का गुलाम

आधुनिक दासता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह स्वयं को दासता कहती ही नहीं। वह विदेशी शासन की तरह स्पष्ट बेड़ियाँ नहीं पहनाती, बल्कि तंत्र और संवैधानिक संरचना के माध्यम से समाज को मानसिक और संरचनात्मक रूप से बाँध देती है। मनुष्य स्वतंत्र दिखाई देता है, किंतु उसकी स्वतंत्रता का दायरा पहले से तय कर दिया जाता है। यही बिना जंजीर की गुलामी है।

तंत्र और संविधान : पिंजरे की संरचना

बजरंग मुनि के अनुसार, वर्तमान व्यवस्था में संविधान समाज का रक्षक नहीं, बल्कि तंत्र की ढाल बन चुका है। संविधान संसद की जेल में कैद होकर उस तंत्र की रक्षा करता है, जो समाज को नियंत्रित करता है। नीति, निर्देशक तत्वों और कल्याणकारी प्रावधानों के नाम पर राज्य ने समाज के अधिकारों को अपने भीतर समेट लिया है। परिणाम यह हुआ कि समाज, राज्य का नियंत्रक नहीं रहा 'वह तंत्र का आश्रित बन गया'। संविधान यहाँ स्वतंत्रता का साधन नहीं, एक व्यवस्थित पिंजरा बन जाता है।

लोकतंत्र की आड़ में गुलामी

वर्तमान लोकतंत्र में मतदाता को यह विश्वास दिलाया जाता है कि वह सत्ता का स्रोत है। पर व्यवहार में वह केवल अपनी गुलामी पर मुहर लगाने वाला बनकर रह गया है। चुनाव का अर्थ अब प्रतिनिधि को चुनना नहीं, बल्कि उस संवैधानिक ढाँचे को वैधता देना है, जो नागरिक को नियंत्रित करता है। मतदाता न तो अपने प्रतिनिधि को वापस बुला सकता है, न उसे नियंत्रित कर सकता है। लोक नियुक्ति का अधिकार है, पर लोक नियंत्रण का नहीं। यही लोकतंत्र के भीतर छिपी गुलामी है।

देश स्वतंत्र, समाज गुलाम

अंग्रेज़ों के जाने के बाद देश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हुआ, लेकिन गाँव और समाज स्वतंत्र नहीं हुए। राज्य, व्यवस्था ने समाज, व्यवस्था को अपने अधीन कर लिया। गाँव, परिवार और समुदाय, जो कभी स्वशासी इकाइयाँ थे, आज तंत्र के आदेशों पर निर्भर हो गए। राज्य मजबूत हुआ, समाज कमजोर। यहीं आधुनिक दासता की जड़ है।

स्वतंत्रता का भ्रम

आज जिसे स्वतंत्रता कहा जा रहा है, वह वास्तव में राज्य द्वारा दी गई छूट है, स्वराज्य नहीं। **मुनि जी स्पष्ट करते हैं कि** वास्तविक स्वतंत्रता लोक स्वराज्य है - जहाँ व्यक्ति, परिवार और गाँव अपने निर्णय स्वयं ले सकें। इसके विपरीत वर्तमान व्यवस्था सुराज का आश्वासन देती है अर्थात अच्छा शासन। यह अच्छा शासन स्वतंत्रता का भ्रम पैदा करता है, लेकिन वास्तव में तंत्र की तानाशाही को मजबूत करता है। जब तंत्र लोक नियंत्रित न होकर केवल लोक नियुक्त रह जाए, तो स्वतंत्रता केवल नाम की रह जाती है।

सुविधा, सुरक्षा और आत्मसमर्पण-

आधुनिक राज्य नागरिकों को स्वावलंबी नहीं बनाता। वह उन्हें मुखापेक्षी बनाता है। सुविधाएँ देकर, सुरक्षा का आश्वासन देकर, और जनकल्याण का दावा करके वह धीरे, धीरे नागरिक के अधिकार छीन लेता है। लोग स्वतंत्रता की माँग नहीं करते, वे सुविधाओं की माँग करते हैं। और सुविधाओं के बदले अपनी स्वतंत्रता सौंप देते हैं। यहीं मालिक और गुलाम जैसा संबंध जन्म लेता है।

संरक्षक सिंड्रोम-

राज्य स्वयं को समाज का संरक्षक घोषित कर देता है। यह मान लिया जाता है कि जनता अयोग्य, अनपढ़ और निर्णय लेने में असमर्थ है। इस आधार पर राज्य हर निर्णय अपने हाथ में ले लेता है। सुरक्षा और कल्याण के नाम पर समाज के अधिकारों में निरंतर कटौती होती जाती है। और जनता इसे अपना हित मान लेती है।

गुलामी में आनंद-

सबसे खतरनाक स्थिति वह है, जहाँ गुलामी में ही आनंद आने लगे। सामान्य जन, श्रमजीवी और तथाकथित शरीफ वर्ग वोट और टैक्स देने के बाद यह मान लेता है कि उसका दायित्व समाप्त हो गया। 'बाकी सब सरकार करेगी' यह भावना स्वतंत्र नागरिक की नहीं, आत्मसमर्पित गुलाम की होती है।

नागरिक से उपभोक्ता तक

आधुनिक राजनीति नागरिक को जिम्मेदार इकाई नहीं, उपभोक्ता और वोटर में बदल देती है। समाज को उत्पादक और उपभोक्ता वर्गों में बाँट दिया जाता है। नीतियाँ उपभोक्ताओं के पक्ष में और उत्पादकों के विरुद्ध काम करती हैं। श्रम का शोषण होता है, बाज़ार को बढ़ाया जाता है, और नागरिक को वस्तुओं पर निर्भर बनाया जाता है। मूलभूत आवश्यकताओं पर टैक्स, और सुविधाओं पर सब्सिडी। यह व्यवस्था नागरिक को स्वतंत्र उत्पादक नहीं रहने देती। वह राज्य पर निर्भर उपभोक्ता बन जाता है।

निष्कर्ष

आधुनिक दासता को समझने के लिए जंजीर ढूँढने की आवश्यकता नहीं। वह संविधान की आड़ में, लोकतंत्र के नाम पर, सुविधा और सुरक्षा के सौदे के माध्यम से काम करती है। मनुष्य स्वतंत्र दिखाई देता है, लेकिन वह निर्णय नहीं ले सकता। और जो निर्णय नहीं ले सकता, वह स्वतंत्र नहीं होता। भले ही उसकी जंजीरें दिखाई न दें। यहीं बिना जंजीर की गुलामी पूर्ण होती है। अब प्रश्न यह नहीं है कि मनुष्य गुलाम है या नहीं। प्रश्न यह है कि यदि वह गुलाम है,

तो वह हर समय इतना क्रोधित क्यों है? यह क्रोध कहाँ से आता है, और किसके काम आता है? अगला अध्याय इसी प्रश्न से आरंभ होगा- **आक्रोश में डूबा व्यक्ति**

अध्याय – 11
आक्रोश में डूबा व्यक्ति

आज का मनुष्य क्रोधित है। यह क्रोध अपवाद नहीं, सामान्य स्थिति बन चुका है। सड़क पर, घर में, सोशल मीडिया पर, हर जगह असंतोष, झुंझलाहट और आक्रोश दिखाई देता है। यह आक्रोश स्वाभाविक नहीं है। यह व्यवस्था, जनित है।

आक्रोश क्यों बढ़ रहा है

मुनि जी के अनुसार, समाज में आक्रोश बढ़ने का पहला कारण है - **न्याय और सुरक्षा की विफलता।**

जब अपराधी दंड से बच जाता है, जब न्याय में अनावश्यक विलंब होता है, और जब पीड़ित को न्याय नहीं मिलता। तो सामान्य व्यक्ति के भीतर कानून के प्रति विश्वास टूटता है। यहीं “तत्काल दंड” की मानसिकता जन्म लेती है। लोग कानून के बजाय भीड़ पर भरोसा करने लगते हैं। यह स्थिति आक्रोश को जन्म देती है।

दूसरा कारण है - स्वभाव में बढ़ती हिंसा और स्वार्थ।

जब हर क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा बढ़ती है, और संसाधन सीमित होते हैं, तो व्यक्ति दूसरों को बाधा समझने लगता है। यह स्वभावगत परिवर्तन समाज को भीतर से अशांत करता है।

तीसरा कारण है - दोषपूर्ण दंड, प्रणाली।

जब राज्य आवश्यकता से कम बल प्रयोग करता है, तो अपराधी के मन से भय निकल जाता है। और जब अपराधी निर्भय हो जाता है, तो समाज असुरक्षित। असुरक्षा आक्रोश को जन्म देती है।

आक्रोश सत्ता का ईंधन कैसे बनता है

सत्ता आक्रोश को समाप्त नहीं करती। वह उसे संरक्षित करती है। मुनि जी स्पष्ट करते हैं कि राजनीति के लिए समाज का गुस्सा सबसे उपयोगी संसाधन है। यदि असंतोष शांत हो जाए, तो राजनीति की ज़मीन खिसकने लगती है। इसीलिए समाज के भीतर असंतोष की ज्वाला बुझने नहीं दी जाती। गरीब, श्रमजीवी और ग्रामीण वर्ग की समस्याएँ पूरी तरह हल नहीं की जातीं। उन्हें इतना राहत दी जाती है कि वे जीवित रहें, पर इतना नहीं कि वे स्वतंत्र हो जाएँ।

व**र्ग संघर्ष का निर्माण**

लोकतंत्र में सत्ता जनता की एकता से डरती है। इसलिए समाज को धर्म, जाति, भाषा, अमीर–गरीब, शहर–गाँव जैसे आधारों पर बाँटा जाता है। पहले वर्ग भेद पैदा किया जाता है। फिर वर्ग विद्वेष। और अंततः वर्ग संघर्ष। यह संघर्ष सत्ता के लिए ईंधन का काम करता है। जब समाज आपस में लड़ रहा होता है, तो सत्ता सुरक्षित रहती है।

भावनाओं की राजनीति

राजनीति का एक पुराना नाटक है - **वैचारिक मुद्दों को पीछे करना,** और भावनात्मक मुद्दों को आगे लाना। वैचारिक मुद्दे समाधान माँगते हैं। भावनात्मक मुद्दे केवल प्रतिक्रिया। जहाँ समाधान की ज़रूरत होती है, वहाँ भावनाएँ भड़का दी जाती हैं। क्रोधित व्यक्ति सोचता नहीं। वह प्रतिक्रिया करता है।

समस्याओं का चक्र

राजनीति समस्याओं को पूरी तरह सुलझाती नहीं। वह उनका प्रबंधन करती है। एक समस्या का समाधान ऐसा निकाला जाता है कि उससे एक नई समस्या जन्म ले। इससे समस्या बनी रहती है, और सत्ता की आवश्यकता भी। यह चक्र आक्रोश को लगातार जीवित रखता है।

आक्रोश का परिणाम

लगातार क्रोध में जीने वाला व्यक्ति

- थक जाता है
- विभाजित हो जाता है
- और अकेला पड़ जाता है

वह संगठित नहीं हो पाता। और जो संगठित नहीं हो सकता, वह सत्ता के लिए खतरा नहीं होता।

निष्कर्ष

आज का आक्रोश न तो केवल स्वभावगत है, न केवल व्यक्तिगत। वह एक राजनीतिक साधन है। सत्ता शांत नागरिक से डरती है, क्योंकि शांत नागरिक सोचता है। क्रोधित नागरिक केवल प्रतिक्रिया करता है। इसलिए आज मनुष्य को न चुप कराया जाता है, न मुक्त किया जाता है - उसे क्रोधित रखा जाता है। यहीं आधुनिक दासता अपना अंतिम रूप लेती है। लेकिन यह आक्रोश केवल नीचे की कहानी नहीं है। सबसे भयावह संकेत तब मिलता है, जब सत्ता, संपत्ति और बौद्धिकता के शिखर पर बैठे लोग नैतिक रूप से पूरी तरह अनावृत दिखाई देने लगते हैं। जब वही लोग, जिन्हें समाज ने सुरक्षा, दिशा और आदर्श का दायित्व सौंपा था, मनुष्य को संसाधन की तरह उपयोग करते दिखें ... तब क्रोध केवल प्रतिक्रिया नहीं रहता, वह अस्तित्वगत असुरक्षा बन जाता है। ऐसे क्षण में प्रश्न सत्ता का नहीं, रक्षा का हो जाता है। यदि ऊपर बैठे सभी अविश्वसनीय हैं, तो लोकतंत्र किसके भरोसे खड़ा है? और यदि उत्तर “भीड़” है, तो लोकतंत्र पहले ही समाप्त हो चुका है। यही प्रश्न हमें अगले अध्याय की दहलीज़ पर खड़ा करता है ... जहाँ तय होना है कि लोकतंत्र का कोई नैतिक मार्ग शेष है, या हम उसके अंत को केवल टाल रहे हैं।

यहीं से अंतिम भाग आरंभ होता है—

भाग – 5 : प्रश्न और संभावना और पहला अध्याय—

अध्याय – 12
लोकतंत्र का उद्विकासन या उसका अंत

यदि सत्ता, संपत्ति और बौद्धिकता के शीर्ष पर बैठे लोग नैतिक रूप से अविश्वसनीय प्रतीत होने लगें, तो लोकतंत्र का संकट शासन का नहीं रहता वह रक्षा का संकट बन जाता है। उस क्षण प्रश्न यह नहीं होता कि सत्ता किसके पास है, बल्कि यह होता है कि नियंत्रण किसके हाथ में है, और क्या वह नियंत्रण नैतिक भी है। लोकतंत्र मूलतः एक व्यवस्था नहीं, एक विश्वास था ... यह विश्वास कि शक्ति नीचे से ऊपर जाएगी, कि नागरिक मालिक होगा और तंत्र उसका प्रबंधक। परंतु व्यवहार में यह विश्वास टूटता दिखाई देता है।

लोकतंत्र का विचलन

आज का नागरिक सत्ता को नियुक्त तो करता है, पर नियंत्रित नहीं कर पाता। वह मतदान करता है, पर उत्तरदायित्व तय नहीं कर सकता। इस स्थिति में लोकतंत्र सहभागिता नहीं रह जाता, वह केवल एक प्रक्रिया बन जाता है। और जब लोकतंत्र प्रक्रिया मात्र बन जाए, तो उसका उद्विकासन रुक जाता है।

यहीं से उसके अंत की संभावना जन्म लेती है।

गांधी का "प्रत्यक्ष प्रदर्शन"

Mahatma Gandhi के लिए अहिंसा कोई जड़ सिद्धांत नहीं थी। वह एक मार्ग थी 'परिस्थिति के अनुसार चुना गया नैतिक पथ'। **मुनि जी** इसी बिंदु को निर्णायक मानते हैं। महावीर और बुद्ध की अहिंसा सिद्धांत थी। गांधी की अहिंसा मार्ग थी।इस मार्ग का अर्थ था - अन्याय के सामने चुप न रहना, पर उसे हिंसा से भी न दोहराना। गांधी के लिए अन्याय सहना कायरता थी, और अन्याय के विरुद्ध हिंसा गुंडागर्दी। आज की विडंबना यह है कि अहिंसा को चुप्पी का पर्याय बना दिया गया है। अन्याय सहने को सहिष्णुता कहा जाने लगा है। यह गांधी विचार नहीं है।

लोकतंत्र और हिंसा का प्रश्न

मुनि जी स्पष्ट करते हैं - तानाशाही में हिंसा एक विकल्प हो सकती है, क्योंकि वहाँ कोई वैधानिक मार्ग शेष नहीं रहता। पर लोकतंत्र में हिंसा प्रत्यक्ष प्रदर्शन नहीं हो सकती। लोकतंत्र में हिंसा व्यवस्था को नहीं, नागरिक को कमजोर करती है। यदि लोकतंत्र में भी हिंसा को वैध ठहराया जाए, तो लोकतंत्र और तानाशाही में कोई अंतर नहीं बचेगा।

भीड़ और नागरिक का भेद

यहीं यह अध्याय अपने केंद्रीय प्रश्न पर आता है। लोकतंत्र का आधार नागरिक है, भीड़ नहीं। नागरिक वह है - जो अधिकार के साथ कर्तव्य समझता है, जो स्वयं को मालिक मानता है, प्रजा नहीं, और जो विवेक से निर्णय करता है। भीड़ भावना से संचालित होती है। संख्या उसकी शक्ति होती है। वह आसानी से दिशा बदल लेती है। जब बुद्धि और भावना का संतुलन टूटता है, तो बुद्धि प्रधान लोग संचालक बन जाते हैं, और भावना प्रधान लोग भीड़। लोकतंत्र भीड़ पर नहीं टिक सकता। वह केवल जाग्रत नागरिकों पर टिकता है।

नैतिक हस्तक्षेप की सीमा

मुनि जी का आग्रह यहाँ स्पष्ट है, राज्य का क्षेत्र अपराध तक सीमित होना चाहिए, नैतिकता तक नहीं। जब राज्य नैतिकता के क्षेत्र में प्रवेश करता है ... तो वह चरित्र नहीं बनाता, वह भ्रष्टाचार पैदा करता है। अनैतिक आचरण पर समाज बहिष्कार कर सकता है, राज्य दंड नहीं। कानून से चरित्र कभी नहीं बना है। नैतिक हस्तक्षेप का स्थान राज्य नहीं, समाज है।

धर्म और राजनीति का संतुलन

धर्म और राजनीति दोनों एक दुसरे के विरोधी नहीं हैं, वे पूरक हैं। धर्म हृदय परिवर्तन करता है। राजनीति उच्छृंखलता पर अंकुश लगाती है। जब राजनीति धर्म बनने लगती है, और धर्म सत्ता खोजने लगता है, तब समाज टूटता है। गांधी का स्वराज्य सत्ता परिवर्तन का विचार नहीं था। वह स्व नियंत्रण का विचार था।

अध्याय का निष्कर्ष

यह अध्याय कोई समाधान नहीं देता। यह एक कसौटी रखता है। लोकतंत्र बचेगा या नहीं, यह इस पर निर्भर नहीं करता कि सत्ता कौन चलाता है। यह इस पर निर्भर करता है कि-

क्या नागरिक स्वयं को मालिक मानता है?

क्या समाज नैतिक प्रश्न स्वयं उठाता है?

और क्या प्रत्यक्ष प्रदर्शन आज भी नैतिक साहस के साथ संभव है? यदि उत्तर नहीं है, तो लोकतंत्र का अंत किसी तख्तापलट से नहीं होगा ... वह धीरे, धीरे, स्वीकृति के साथ समाप्त हो जाएगा। यहीं से अंतिम प्रश्न जन्म लेता है ... क्या आशा का पुनर्निर्माण संभव है? क्या व्यक्ति की वापसी संभव है? अंतिम अध्याय इसी प्रश्न के साथ आगे बढ़ेगा

अध्याय – 13 / 14 आशा की पुनर्संरचना

अध्याय – 13

क्या पतन अपरिहार्य है?

V. S. Naipaul का कथन है कि "Civilizations decline when they stop examining themselves." (भावार्थ) "सभ्यताएँ तब पतन की ओर बढ़ती हैं जब वे स्वयं का परीक्षण करना बंद कर देती हैं।" जब समाज अपने ही भीतर हिंसा, स्वार्थ और अविश्वास से भरने लगे, तब पहला प्रश्न यही उठता है- क्या यह पतन स्वाभाविक है? क्या यह नियति है? या यह किसी विशिष्ट व्यवस्था का परिणाम है?

मुनि जी के अनुसार, वर्तमान पतन न तो आकस्मिक है और न ही अपरिहार्य। यह एक व्यवस्थाजन्य स्थिति है। भौतिक उन्नति, नैतिक पतन आज का युग भौतिक उन्नति का युग है। तकनीक, शिक्षा और संसाधन निरंतर बढ़ रहे हैं। पर उसी गति से नैतिक विवेक घट रहा है। ज्ञान का विस्तार हुआ है, पर बुद्धि का संकुचन। **मुनि जी स्पष्ट**

करते हैं... यह चरित्र का संकट नहीं, संरचना का संकट है। व्यक्ति पहले बुरा नहीं हुआ, पहले उसे निर्भर बनाया गया।

पतन का वास्तविक कारण

इस पतन का मूल कारण सत्ता का केंद्रीयकरण है। जैसे, जैसे राजनीति ने समाज को अपने अधीन किया, वैसे, वैसे समाज ने अपने नैतिक उपकरण खो दिए। न्याय और सुरक्षा राज्य के एकाधिकार बन गए। समाज निष्क्रिय हुआ। व्यक्ति कायर नहीं हुआ, उसे असहाय बनाया गया। जब राज्य आवश्यकता से कम बल प्रयोग करता है, तो अपराधी निर्भय होता है और सामान्य व्यक्ति हिंसा की ओर झुकता है। यह हिंसा स्वभाव नहीं, असुरक्षा की उपज है।

लोकतंत्र और पतन का चक्र

मुनि जी का यह कथन निर्णायक है... लोकतंत्र में अव्यवस्था बढ़ती है और अव्यवस्था का अंतिम परिणाम तानाशाही होता है। यह कोई भविष्यवाणी नहीं, इतिहास का अवलोकन है। जब विचार-मंथन रुकता है और विचार-प्रचार हावी हो जाता है, तो समाज टूटने लगता है। पतन यहीं से शुरू होता है।

इतिहास का पुनरावलोकन

मुनि जी भारतीय इतिहास को "समाज और राज्य" के संबंध से पढ़ते हैं। प्राचीनकाल में समाज सर्वोच्च था, धर्म सहायक था, राज्य रक्षक मात्र। भारत विचारों का निर्यातक था। व्यवस्था योग्यता पर आधारित थी, जन्म पर नहीं। मध्यकाल में पहले मजहबी संगठन ने समाज को कमजोर किया। फिर औपनिवेशिक पूंजीवाद ने राज्य को शक्तिशाली बना दिया। स्वतंत्रता के बाद भारतीय चिंतन के स्थान पर विदेशी ढाँचों की नकल हुई। परिवार और समाज... संविधान से बाहर कर दिए गए। राज्य को समाज का संरक्षक बना दिया गया। परिणाम यह हुआ कि समाज गुलाम हुआ और राज्य सर्वशक्तिमान। ज्ञान प्रधान समाज शक्ति प्रधान हुआ, फिर धन प्रधान, और अब धूर्तता और गुंडागर्दी प्रधान।

क्या चेतना का पुनर्जागरण संभव है?

मुनि जी का उत्तर स्पष्ट है – हाँ, और यही एकमात्र मार्ग है। लेकिन यह पुनर्जागरण नारे से नहीं आएगा, कानून से नहीं आएगा। यह आएगा विचार-मंथन से। विचार-मंथन बनाम विचार-प्रचार आज सबसे बड़ा संकट यह है कि हम विचार करते नहीं, हम विचारों का प्रचार करते हैं।
मृत महापुरुषों के उद्धरण विवेक का स्थान ले चुके हैं।

मुनि जी कहते हैं... देश, काल, परिस्थिति के अनुसार नए निष्कर्ष निकालना ही सच्चा चिंतन है। भारत को विचारों का आयातक नहीं, पुनः निर्यातक बनना होगा।

ज्ञान यज्ञ

मुनि जी का समाधान 'ज्ञान यज्ञ' है। यह न श्रद्धा मात्र है, न तर्क मात्र। यह श्रद्धा, तर्क और आत्मविश्वास का संगम है। जो व्यक्ति के भीतर नैतिक साहस को जगाता है। यहीं से चेतना लौटती है। लोक स्वराज्य उस चेतना की राजनीतिक अभिव्यक्ति। चेतना का पुनर्जागरण तब तक अधूरा है जब तक व्यवस्था न बदले। मुनि जी का आग्रह है कि शासन व्यवस्था को संसदीय लोकतंत्र से आगे बढ़कर लोक स्वराज्य की ओर जाना चाहिए। जहाँ जनता केवल वोटर नहीं, सहभागी हो। जहाँ निर्णय का अधिकार परिवार और गाँव के पास हो। जहाँ सत्ता का अकेन्द्रीकरण हो, राज्य नहीं, समाज केंद्र में हो।

समाज का सशक्तिकरण

राज्य को कमजोर करना उद्देश्य नहीं, समाज को सशक्त करना उद्देश्य है। राज्य का कार्य सुरक्षा और न्याय तक सीमित हो। शेष सब शिक्षा, नैतिकता, सामाजिक संतुलन समाज स्वयं संभाले। यहीं से आशा का पुनर्निर्माण शुरू होता है।

निष्कर्ष :

पतन हो रहा है, लेकिन वह अपरिहार्य नहीं। इतिहास बताता है कि जब, जब समाज ने अपना विवेक छोड़ा, वह टूटा। और जब, जब उसने स्वतंत्र चिंतन को पुनर्जीवित किया, वह उठा। आशा किसी व्यवस्था से नहीं आती। वह उस क्षण से आती है जब व्यक्ति कहता है "मैं चिंतित नहीं रहूँगा, मैं चिंतन करूँगा।" यहीं से अंतिम प्रश्न जन्म लेता है, यदि व्यक्ति जागे, यदि समाज सशक्त हो, और यदि सत्ता अकेन्द्रीत हो ... तो क्या यह केवल विचार रहेगा, या एक व्यवहारिक दिशा भी बन सकेगी?
अंतिम अध्याय इसी प्रश्न पर केंद्रित होगा—

अध्याय 14 : व्यक्ति, समाज और अकेंद्रित सत्ता (समाधान नहीं, दिशा)

अध्याय – 14
व्यक्ति, समाज और अकेंद्रित सत्ता
(समाधान नहीं, दिशा)

यह पुस्तक समाधान खोजने के लिए नहीं लिखी गई। क्योंकि आधुनिक राजनीति में 'समाधान' शब्द स्वयं एक भ्रम बन चुका है। समस्याएँ समाप्त नहीं की जातीं, उन्हें स्थानांतरित किया जाता है। एक समाधान से दूसरी समस्या जन्म लेती है, और व्यवस्था स्वयं को अनिवार्य बनाए रखती है। इसलिए अब प्रश्न यह नहीं है कि ... क्या किया जाए? प्रश्न यह है ... किस दिशा में चला जाए? यहीं से आशा की पुनर्संरचना प्रारंभ होती है।

आशा की पुनर्संरचना

आशा किसी नेता, सरकार या संस्था से उत्पन्न नहीं होती। आशा तब जन्म लेती है जब व्यवस्था विकेंद्रित होती है और व्यक्ति सक्रिय होता है। जब तक आशा संसद या सत्ता के गलियारों में खोजी जाएगी, वह बार-बार टूटती रहेगी। आशा की नई संरचना लोक स्वराज्य में है। जहाँ जनता केवल मतदाता नहीं, सहभागी होती है। जहाँ तंत्र मालिक नहीं, समाज का प्रबंधक होता है। सरकार को दिया

गया अधिकार वास्तव में शक्ति है और शक्ति समाज की अमानत है। अमानत पर नियंत्रण बना रहे, इसके लिए समाज को अपने प्रबंधकों को वापस बुलाने का अधिकार होना चाहिए। नियंत्रण रहित प्रतिनिधित्व अंततः प्रभुत्व में बदल जाता है। आशा घोषणापत्र से नहीं लौटती। वह विचार-मंथन से लौटती है। श्रद्धा, तर्क और आत्मविश्वास का संगम यही ज्ञान यज्ञ है। जब समाज स्वयं निष्कर्ष निकालता है, तभी भ्रम टूटता है। इसलिए आशा अब किसी अमूर्त राष्ट्रवाद में नहीं, बल्कि परिवार और गाँव जैसी जीवित इकाइयों में खोजी जानी चाहिए।

समाधान नहीं, दिशा

राजनीति का सबसे आकर्षक उपकरण है 'त्वरित समाधान'। आर्थिक समस्या का प्रशासनिक समाधान, सामाजिक समस्या का कानूनी समाधान ... यही दिशाहीनता है।

दिशा स्पष्ट है - सत्ता का अकेंद्रीकरण।

विकेंद्रीकरण वह स्थिति है जहाँ शक्ति ऊपर से नीचे बाँटी जाती है। अकेंद्रीकरण वह स्थिति है जहाँ शक्ति नीचे से ऊपर दी जाती है। अंतर सूक्ष्म है, पर परिणाम गहरे हैं।

हमें सुराज नहीं, स्वराज चाहिए।

सुराज अच्छा प्रबंधन दे सकता है; स्वराज निर्णय का अधिकार लौटाता है। आर्थिक दिशा में भी व्यक्ति को केवल उपभोक्ता बनने से रोकना होगा। श्रम को पुनः केंद्र में लाना होगा। जब तक मशीन की दक्षता को मनुष्य की गरिमा से ऊपर रखा जाएगा, तब तक शोषण संरचनात्मक ही रहेगा। यहीं गांधी का प्रत्यक्ष प्रदर्शन एक मार्ग के रूप में महत्त्वपूर्ण हो जाता है। गांधी के लिए अहिंसा जड़ सिद्धांत नहीं थी; वह नैतिक दबाव की पद्धति थी। जब मार्ग को सिद्धांत बना दिया जाता है, तो दिशा खो जाती है और साधन भी खोखले हो जाते हैं। सही दिशा वही है- जहां राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम हो और समाज की भूमिका सक्रिय।

व्यक्ति की वापसी

व्यक्ति समाज की एकमात्र प्राकृतिक इकाई है। परिवार, समाज और राष्ट्र व्यवस्था की इकाइयाँ हैं 'मूल नहीं'। आधुनिक व्यवस्था ने व्यक्ति को सीधे राज्य से जोड़ दिया। बीच की इकाइयाँ धीरे-धीरे समाप्त हो गईं। परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति अकेला पड़ गया। वह सुरक्षित दिखता है, पर संरचनात्मक रूप से निर्भर हो गया। व्यक्ति की वापसी का अर्थ है- उसके स्व-निर्णय की वापसी। जब व्यक्ति पुलिस और अदालत से पहले परिवार और समाज में सुरक्षा अनुभव करेगा, तभी उसकी गरिमा लौटेगी। व्यक्ति की वापसी अपराध-बोध से मुक्ति भी है। हर निषिद्ध कर्म को अपराध कहने वाली व्यवस्था ने व्यक्ति को भीतर से दोषी बना दिया है। और दोषी व्यक्ति कभी स्वतंत्र नहीं होता।

स्वतंत्रता का नैतिक अर्थ

स्वतंत्रता मनमानी नहीं है। स्वतंत्रता का नैतिक अर्थ है 'सहजीवन'। प्रत्येक व्यक्ति को असीम स्वतंत्रता का प्राकृतिक अधिकार है, पर उसकी एक सीमा है कि वह किसी अन्य व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन न करे। यही अपराध की सीमा है। इसके आगे राज्य का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। स्वराज का अर्थ है अपने इकाईगत निर्णय लेने की क्षमता। जब व्यक्ति, परिवार और गाँव अपने जीवन के प्रश्न स्वयं तय करते हैं, तब तंत्रता अधिकार नहीं, जीवन-पद्धति बन जाती है। अनैतिक आचरण पर समाज बहिष्कार कर सकता है; पर दंड का अधिकार राज्य को केवल अपराध तक सीमित रहना चाहिए। कानून अपराध रोक सकता है, चरित्र नहीं बना सकता।

निष्कर्ष

यह अध्याय किसी आदर्श समाज का चित्र नहीं बनाता। यह केवल एक दिशा का संकेत देता है। आशा का पुनर्निर्माण राज्य से नहीं, व्यक्ति से प्रारंभ होता है। व्यवस्था ऊपर से नहीं बदलेगी। परिवर्तन नीचे से उठेगा विवेक से, परिवार से, समुदाय से। जब सत्ता अकेंद्रित होकर सेवा की भूमिका स्वीकार करेगी, जब समाज अपने नैतिक उत्तरदायित्व को पुनः ग्रहण करेगा, और जब व्यक्ति अपने विवेक पर भरोसा करेगा -

तभी स्वतंत्रता अधिकार नहीं, जीवन-पद्धति बनेगी।

आशा अभी भी संभव है- यदि हम समाधान नहीं, दिशा खोजने का साहस रखें।

पुस्तक परिचय

आशा खोती मानवता

आशा खोती मानवता हमारे समय के एक गहरे और असहज प्रश्न से टकराती है! आज का मनुष्य पहले से अधिक स्वार्थी, हिंसक और क्रोधित क्यों दिखाई देता है? यह पुस्तक व्यक्ति को दोष देने से पहले उस व्यवस्था की पड़ताल करती है, जिसने उसे धीरे-धीरे नैतिक, वैचारिक और निर्णयात्मक रूप से कमजोर किया है। यह कृति सत्ता, धर्म, विचारधारा और आधुनिक लोकतंत्र की उन संरचनाओं का विश्लेषण करती है, जिनके भीतर मनुष्य एक स्वतंत्र चेतन इकाई से घटकर उपभोक्ता, अनुयायी और भीड़ का हिस्सा बनता जाता है। पुस्तक का केंद्रीय तर्क यह है कि वर्तमान हिंसा और स्वार्थ किसी जैविक या सांस्कृतिक पतन का परिणाम नहीं, बल्कि सत्ता के

केंद्रीकरण, समाज की निष्क्रियता और विचार-मंथन के क्षीण हो जाने का परिणाम हैं।

जब राज्य नैतिकता पर अधिकार करने लगता है, धर्म संगठन में सिमट जाता है और विचारधाराएँ विवेक का स्थान ले लेती हैं, तब व्यक्ति असहाय होकर आक्रोश में जीने लगता है। यह पुस्तक आधुनिक दासता को जंजीरों से नहीं, बल्कि सहमति, सुविधा और भय के माध्यम से समझाती है। यह दिखाती है कि लोकतंत्र कैसे सहभागिता से प्रक्रिया में बदल जाता है और नागरिक कैसे वोटर व उपभोक्ता तक सीमित हो जाता है। पुस्तक निराशा पर समाप्त नहीं होती। यह समाधान नहीं थोपती, बल्कि दिशा सुझाती है, जहाँ आशा व्यक्ति की वापसी, समाज के सशक्तिकरण और अकेंद्रित सत्ता की नैतिक कल्पना से जन्म लेती है। यह उन लोगों के लिए है जो भीड़ से पहले नागरिक बने रहना चाहते हैं और शोर के बीच विवेक की आवाज़ सुनना चाहते हैं।

ज़ूम चर्चा कार्यक्रम

1 भारत में आंतरिक सुरक्षा और न्याय व्यवस्था: चुनौतियाँ और समाधान

माँ संस्थान द्वारा संचालित ज़ूम चर्चा कार्यक्रम में भारत में आंतरिक सुरक्षा और न्याय व्यवस्था के चुनौतियाँ और समाधान विषय पर महत्वपूर्ण विमर्श हुआ। बैठक में लगभग 20 प्रतिभागियों ने इस विषय की वर्तमान स्थिति पर गंभीर चर्चा की। इस विचार-विमर्श में कई महत्वपूर्ण मुद्दे सामने आए, जो देश की सुरक्षा प्रणाली की कमजोरियों और सुधार की आवश्यकता को स्पष्ट करते हैं।

सबसे पहले, अपराध नियंत्रण और बजट के अभाव पर चिंता व्यक्त की गई। प्रतिभागियों का मानना था कि भारत सरकार बाहरी सुरक्षा और आतंकवाद जैसे मुद्दों पर तो विशेष ध्यान देती है, लेकिन सामान्य अपराधों—जैसे हत्या, बलात्कार और चोरी—के नियंत्रण के लिए पर्याप्त बजट और स्पष्ट नीति का अभाव है। आंतरिक सुरक्षा के लिए आवंटित बजट कुल बजट का बहुत छोटा हिस्सा है, जिससे इस क्षेत्र में प्रभावी सुधार करना कठिन हो जाता है। दूसरा प्रमुख मुद्दा न्यायिक व्यवस्था की जटिलता और धीमी प्रक्रिया का रहा। चर्चा में यह बात सामने आई कि न्यायिक प्रणाली इतनी लंबी और पेचीदा है कि अपराधियों में कानून का भय लगभग समाप्त हो चुका है। वर्तमान व्यवस्था में न्याय के बजाय प्रक्रियाओं के पालन पर अधिक जोर दिया जाता है, जिसके कारण अपराधी आसानी से जमानत प्राप्त कर पुनः अपराध करने लगते हैं।

पुलिस व्यवस्था की चुनौतियाँ भी चर्चा का महत्वपूर्ण हिस्सा रहीं। भारत में पुलिस और जनता का अनुपात अंतर्राष्ट्रीय मानकों की तुलना में काफी कम है। इसके अतिरिक्त, पुलिस बल आधुनिक संसाधनों, प्रशिक्षण और आवश्यक सुविधाओं के अभाव में कार्य करता है। राजनीतिक दबाव भी उनकी कार्यक्षमता को प्रभावित करता है। पुलिस कर्मियों के वेतन और रहने की परिस्थितियाँ भी सुधार की मांग करती हैं।

राजनीतिक और सामाजिक कारणों को भी अपराध वृद्धि के लिए जिम्मेदार माना गया। राजनीति और अपराधियों के बीच गठजोड़ अपराध नियंत्रण में एक बड़ी बाधा है। साथ ही, समाज में संयुक्त परिवारों के विघटन से व्यक्तियों में असुरक्षा की भावना बढ़ी है, जो सामाजिक ताने-बाने को कमजोर करता है। चर्चा का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष "भय बिनु होई ना प्रीति" के सिद्धांत के रूप में सामने आया। प्रतिभागियों ने माना कि जब तक अपराधियों में दंड का भय नहीं होगा, तब तक समाज में सुरक्षा सुनिश्चित नहीं की जा सकती। वर्तमान स्थिति में आम नागरिक कानून से भयभीत है, जबकि अपराधी निर्भय होकर कार्य करते हैं।

इसके अलावा, सुरक्षा को केवल शारीरिक सुरक्षा तक सीमित न मानकर व्यक्तिगत और आर्थिक स्वतंत्रता से भी जोड़ा गया। यह चिंता व्यक्त की गई कि आज के समय में व्यक्ति खुलकर अपनी बात नहीं रख पाता और उसे अपनी सुरक्षा के लिए किसी समूह या राजनीतिक संरक्षण का सहारा लेना पड़ता है। अंततः, बैठक में यह निष्कर्ष निकाला गया कि केवल नए कानून बनाना पर्याप्त नहीं है। वास्तविक सुधार के लिए पुलिस व्यवस्था में सुधार, न्यायिक प्रक्रिया को त्वरित और सरल बनाना, तथा अपराधियों में दंड का वास्तविक भय स्थापित करना आवश्यक है। इसके लिए सबसे महत्वपूर्ण है मजबूत राजनीतिक इच्छाशक्ति, जो इन सुधारों को लागू कर सके।

यह चर्चा स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि यदि भारत को एक सुरक्षित और न्यायपूर्ण समाज बनाना है, तो आंतरिक सुरक्षा और न्याय प्रणाली में व्यापक और ठोस सुधार अनिवार्य हैं।

2-पुलिस व्यवस्था की चुनौतियाँ और सुधार की आवश्यकता

माँ संस्थान द्वारा आयोजित ज़ूम चर्चा में विभिन्न वक्ताओं ने पुलिस व्यवस्था की स्थिति, समस्याओं और सुधारों पर अपने विचार साझा किए। चर्चा की शुरुआत करते हुए पुलिस के महत्व पर जोर दिया गया। कहा गया कि आधुनिक राज्य में कानून-व्यवस्था बनाए रखने के लिए पुलिस अनिवार्य है, लेकिन उस पर अत्यधिक कार्यभार है। जनसंख्या के अनुपात में पुलिसकर्मियों की कमी से उनकी कार्यक्षमता प्रभावित हो रही है। न्यायपालिका की धीमी प्रक्रिया को भी पुलिस पर बढ़ते दबाव का कारण बताया

गया और "एनकाउंटर संस्कृति" को लोकतंत्र के लिए खतरनाक माना गया। पुलिस को राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त करने और आधुनिक तकनीक से लैस करने की आवश्यकता बताई गई। पुलिस को लोकतांत्रिक व्यवस्था का सहयोगी अंग बताते हुए कहा गया कि संविधान लागू होने के बाद भी औपनिवेशिक कानून जारी रहे, जिससे अपेक्षित सुधार नहीं हो पाए। पुलिस पर अतिरिक्त कार्यभारक-जैसे त्योहार, जुलूस, वीआईपी ड्यूटी और छोटे विवादकृका उल्लेख किया गया, जो उसकी मुख्य जिम्मेदारियों को प्रभावित करता है। यह भी कहा गया कि फर्जी मामलों और एनकाउंटर में अक्सर निचले स्तर के कर्मचारियों को जिम्मेदार ठहराया जाता है, जबकि वास्तविक दबाव उच्च स्तर से आता है। व्यापक व्यवस्था में सुधार के बिना पुलिस सुधार संभव नहीं है। पुलिसकर्मियों की कार्य परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया कि अनियमित और लंबी ड्यूटी उनकी कार्यक्षमता और मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करती है। पुलिस बल की संख्या बढ़ाने और ड्यूटी समय निर्धारित करने की आवश्यकता बताई गई। पुलिस के अनावश्यक हस्तक्षेप और भ्रष्टाचार पर चिंता जताई गई। कई बार पुलिस उन मामलों में भी हस्तक्षेप करती है जहां उसकी आवश्यकता नहीं होती, जिससे भ्रष्टाचार बढ़ता है। यह भी कहा गया कि एनकाउंटर केवल राजनीतिक दबाव का परिणाम नहीं होते, बल्कि सामाजिक दबाव और व्यक्तिगत कारण भी इसमें भूमिका निभाते हैं। पुलिस और सत्ता के संबंधों की आलोचना करते हुए कहा गया कि पुलिस का उद्देश्य नागरिक सुरक्षा होना चाहिए, लेकिन व्यवहार में वह कई बार सत्ता के हितों की रक्षा करती है। थानों की "नीलामी" और अपराधियों को संरक्षण मिलने जैसी प्रवृत्तियों पर चिंता जताई गई। कहा गया कि कई बार पुलिस "रक्षक" के बजाय "भक्षक" की तरह व्यवहार करती है, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में जहां गरीब और अशिक्षित लोगों का शोषण होता है। छोटे विवादों में पैसे लेकर समझौता कराना और निर्दोष लोगों को फंसाना आम समस्या है। पुलिस की व्यापक शक्तियों और उनके दुरुपयोग पर प्रकाश डालते हुए कहा गया कि अधिक कानून होने के कारण भ्रष्टाचार बढ़ता है और आम नागरिकों का शोषण होता है, जबकि बड़े अपराधियों को राजनीतिक संरक्षण मिलता है। अंत में संतुलित दृष्टिकोण रखते हुए कहा गया कि पुलिस समाज की अनिवार्य आवश्यकता है और उस पर अत्यधिक दबाव होता है। पुलिस और समाज के बीच बेहतर समन्वय को समाधान बताया गया।

निष्कर्षतः चर्चा से स्पष्ट है कि पुलिस व्यवस्था कई चुनौतियों अत्यधिक कार्यभार, राजनीतिक हस्तक्षेप, भ्रष्टाचार और संसाधनों की कमीक से जूझ रही है। समाधान के लिए पुलिस बल की संख्या बढ़ाना, कार्य समय तय करना, कानूनों को सरल बनाना, राजनीतिक हस्तक्षेप कम करना और जवाबदेही बढ़ाना आवश्यक है। तभी पुलिस वास्तव में "रक्षक" की भूमिका निभा सकेगी।

साथियों की कलम से

भारतीय संविधान का निर्माण किस प्रकार हुआ? कुछ विद्वानों का मत है कि 1935 में अंग्रेजों द्वारा निर्मित "Indian Independence Act" के आधार पर ही भारतीय संविधान का निर्माण हुआ, तथा अंग्रेजों की नीति 'फूट डालो और शासन करो' पर आधारित थी। वहींअनेक विद्वान यह मानते हैं कि भारतीय संविधान का निर्माण संविधान सभा के 299 सदस्यों द्वारा किया गया। कुछ के अनुसार संविधान-निर्माण में सर बी. एन. राव की प्रमुख भूमिका रही, जबकि अधिकांश लोग डॉ. भीमराव अंबेडकर को संविधान का प्रमुख निर्माता मानते हैं। मेरे दृष्टिकोण में संविधान किसी एक व्यक्ति द्वारा निर्मित नहीं है और न ही इसे ईश्वरीय आदेश के रूप में देखा जा सकता है। संविधान निर्माण की प्रक्रिया मूलतः विभिन्न देशों की शासन-व्यवस्थाओं के अध्ययन, अनुभव और सामूहिक विचार-विमर्श पर आधारित रही है।

वास्तव में भारतीय संविधान का कोई भी अनुच्छेद किसी एक व्यक्ति की एकांगी रचना नहीं है, बल्कि इसके प्रत्येक भाग पर अनेक विद्वानों, विधिवेत्ताओं और विचारकों ने मिलकर कार्य किया है। इनके सामूहिक योगदान का उल्लेख अक्सर पर्याप्त रूप से नहीं किया जाता। इसके पीछे विभिन्न राजनीतिक कारण हो सकते हैं, फिर भी यह स्पष्ट है कि संविधान निर्माण एक सामूहिक प्रयास का परिणाम है, जिसमें अनेक व्यक्तियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने संविधान निर्माण की पूरी प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। संविधान निर्माण की ड्राफ्टिंग कमेटी के अध्यक्ष और भारत के पहले कानून मंत्री डॉ. भीमराव अंबेडकर ने पूरे संविधान को अंतिम रूप दिया। भारतीय प्रशासनिक सेवा अधिकारी, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश, तथा भारतीय संविधान के मुख्य सलाहकार सर बी.एन. राव ने संविधान का मूल ढांचा तैयार किया, जिसमें 243 अनुच्छेद और 13 अनुसूचियां थीं। इसी प्रकार पंडित जवाहरलाल नेहरू ने संविधान का उद्देश्य प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जो आगे चलकर संविधान की मूल प्रस्तावना का आधार बना। इस प्रस्तावना में भारत को स्वतंत्र, संप्रभु, लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने के मूल

सिद्धांतों को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया। प्रमुख समितियों के कार्यों में सरदार वल्लभभाई पटेल का योगदान विशेष रूप से महत्वपूर्ण रहा। इनके साथ एच. सी. मुखर्जी और जे. बी. कृपलानी जैसे सदस्य भी शामिल थे। इस समिति में मौलिक अधिकारों, अल्पसंख्यकों तथा आदिवासी समुदायों की सुरक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर व्यापक विचार-विमर्श किया गया। ड्राफ्टिंग कमेटी में के. एम. मुंशी ने मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक तत्वों के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसी प्रकार कृष्णस्वामी अय्यर ने संविधान के कानूनी, न्यायिक तथा संघीय ढांचे को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय संविधान सभा में कुल 15 महिला सदस्य भी थीं, जिनमें बेगम एजाज रसूल, राजकुमारी अमृत कौर, कमला चौधरी, सरोजिनी नायडू, रेणुका राय गांधीवादी विचारो से प्रेरित दक्षयानी वेलायुधन सहित अन्य महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

यह उचित नहीं है कि संविधान निर्माण का संपूर्ण श्रेय को किसी एक व्यक्ति तक सीमित कर दिया जाए, यह तो संविधान सभा में उपस्थित महिलाओं समेत अन्य सदस्यों के योगदान के साथ अन्याय ही माना जाएगा।

यह सिर्फ एक इतिहास का विषय हो सकता है कि संविधान का निर्माण किसके द्वारा किया गया, लेकिन इस आधार पर कि संविधान का निर्माण अंग्रेजों के द्वारा किया गया अथवा डॉक्टर अंबेडकर, सर बी एन राव या संविधान सभा के द्वारा किया गया, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता और न ही इस तर्क के आधार पर संविधान को स्वीकार किया जा सकता है। वास्तव में संविधान की समीक्षा करते समय यह मुख्य विषय नहीं है कि संविधान किसके द्वारा लिखा गया। मुख्य विषय यह है कि संविधान व्यवस्था के अनुकूल है अथवा नहीं।

अतः संविधान पर विचार करते समय किसी व्यक्ति विशेष के समर्थन या विरुद्ध पूर्वाग्रह से ग्रसित न होकर यह विचार करना चाहिए कि यह समाज व्यवस्था के अनुकूल है अथवा नहीं, यह संविधान आदर्श है अथवा नहीं। इस आधार पर संविधान का विश्लेषण निष्पक्ष होकर करना चाहिए। यदि भारत का संविधान अंग्रेजों ने ही लिखा और अच्छा लिखा, तो फिर उसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, किंतु यदि यह संविधान "भारत की संविधान सभा" के द्वारा लिखा गया और सही नहीं है, तो भी उसे अस्वीकार करने में कोई समस्या नहीं होनी चाहिए। यह विचारणीय है कि संविधान कोई जड़ दस्तावेज नहीं है, जिसमें कोई परिवर्तन न हो सके। लेकिन संविधान के प्रति आस्था रखने वाले लोग संविधान को एक जड़ दस्तावेज की तरह मानकर चलते हैं, जैसे कि अन्य मत, पंथ, मजहब, संप्रदाय और मान्यताओं को मानने वाले अपने ग्रंथों को लेकर करते हैं और उनमें किंचित मात्र भी परिवर्तन नहीं होने देते। एक तरह से देखा जाए, तो जिस पुस्तक में परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती, वह पुस्तक एक जड़ दस्तावेज हो जाती है।

हालांकि मुख्य बात यह है कि सभी पंथ और संप्रदायों की किताबें किसी वर्ग विशेष की हैं और इन्हें व्यक्तिगत रूप से मानने की मान्यता प्राप्त है। किंतु संविधान किसी वर्ग विशेष की व्यक्तिगत पुस्तक नहीं है, क्योंकि वर्तमान में वह एक देश की व्यवस्था को चलाने वाला लिखित दस्तावेज है और समय पड़ने पर संविधान में संशोधन भी किया जा सकता है। यदि अधिक आवश्यकता होगी और संशोधन से भी काम न चले, तो संपूर्ण संविधान को भी बदला जा सकता है। किंतु भारत में संविधान के प्रति एक ऐसी धारणा बना दी गई है कि संविधान सर्वोच्च है और इसमें कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए, जबकि सत्ता पक्ष सदैव संशोधन करता है और विपक्ष हमेशा इसका विरोध करता है। इस प्रकार की बात करने वाले लोग वैसे ही उन्मादी हैं, जैसे अपने-अपने ग्रंथों को मानने वाले होते हैं। किंतु यदि धार्मिक ग्रंथों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, तो भी चल सकता है, लेकिन ऐसा संविधान के विषय में नहीं कहा जा सकता।

संस्थागत समाचार

लोक स्वराज यात्रा का द्वितीय चरण: वैचारिक क्रांति और 'ज्ञान केंद्र' स्थापना की दिशा में सशक्त पहल

ज्ञान यज्ञ परिवार द्वारा संचालित लोक स्वराज यात्रा के द्वितीय चरण में विभिन्न स्थानों पर संवाद एवं वैचारिक विमर्श के माध्यम से समाज के बीच सक्रिय कार्य किया गया। इस यात्रा का उद्देश्य ज्ञान केंद्रों की स्थापना, वैचारिक शून्यता को कम करना तथा सामाजिक एवं संवैधानिक विषयों पर जनसहभागिता को बढ़ाना है।

यात्रा का प्रारंभ सिंगरौली के पचौर से हुआ, जहाँ स्थानीय साथियों के सहयोग से आयोजित बैठक में ग्राम प्रतिनिधियों एवं नागरिकों के साथ संवाद हुआ। इस दौरान ज्ञान केंद्रों की आवश्यकता, उनकी उपयोगिता तथा समाज सशक्तिकरण में उनकी भूमिका पर चर्चा की गई। इसके पश्चात यात्रा छतरपुर के गांधी आश्रम पहुँची, जहाँ एक महत्वपूर्ण बैठक में 'गांधी आश्रम ज्ञान केंद्र' की स्थापना का निर्णय लिया गया। बैठक में समाज में बढ़ती वैचारिक शून्यता पर चिंता व्यक्त करते हुए इसे दूर करने हेतु निरंतर संवाद और अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया गया। आगे बढ़ते हुए यात्रा निवाड़ी जिले के तारीचर कला ग्राम पहुँची, जहाँ वरिष्ठ गांधीवादी साथी के मार्गदर्शन में आयोजित बैठक में सामाजिक एवं पारिवारिक सशक्तिकरण जैसे विषयों पर विचार-विमर्श हुआ। ग्रामीणों

ने उत्साहपूर्वक सहभागिता करते हुए ज्ञान केंद्र की अवधारणा को सराहा। इसके बाद यात्रा झांसी के चिरगांव पहुँची, जहाँ आयोजित गोष्ठी में स्थानीय नागरिकों के साथ संवाद हुआ। इस दौरान 'ज्ञान तत्व' पत्रिका के प्रति लोगों में रुचि बढ़ी और कई नए सदस्यों ने इसकी सदस्यता ग्रहण की। यात्रा के अगले चरण में उज्जैन जिले के कड़ोदिया ग्राम में आयोजित बैठक में ग्रामीणों ने 'सहज ज्ञान केंद्र' स्थापित करने का निर्णय लिया। बैठक में त्रिस्तरीय व्यवस्था परिवर्तन, विकेंद्रीकरण तथा स्वराज की अवधारणा पर विस्तार से चर्चा हुई। ग्रामीणों ने केंद्र के संचालन में सक्रिय भूमिका निभाने की सहमति भी दी। पूरे चरण के दौरान यह स्पष्ट रूप से सामने आया कि समाज में वैचारिक संवाद की आवश्यकता व्यापक रूप से महसूस की जा रही है। यात्रा के माध्यम से नए लोगों से संपर्क स्थापित हुआ तथा पुराने साथियों के साथ संवाद सुदृढ़ हुआ। अनेक स्थानों पर ज्ञान केंद्रों की स्थापना एवं आगे की गतिविधियों में सहयोग हेतु सहमति प्राप्त हुई। वर्तमान चरण के उपरांत यह यात्रा आगे की तैयारी के साथ अन्य क्षेत्रों में पुनः प्रारंभ होगी, जहाँ संवाद और संगठन का यह क्रम निरंतर जारी रहेगा।